साहित्य-मणि-माला—मणि ७

पुरातत्त्व-प्रसङ्ग

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

१९८६

प्रथमावृत्ति

मूल्य

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा साहित्य प्रेस,
चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित,
तथा साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)
द्वारा प्रकाशित ।

निवेदन

भारत जिस गति या दुर्गति को इस समय, नहीं, बहुत पहले ही से, प्राप्त हो रहा है, उसका कारण दैव-दुर्विपाक नहीं। कारण तो स्वयमेव भारत ही की अकर्मण्यता है। जिस भारत ने समुद्र पार दूरवर्ती देशों और टापुओं तक में अपने उपनिवेश स्थापित किये, जिसने दुर्लंघ्य पर्वतों और पार्वत्य उपत्यकाओं का लंघन करके अन्य देशों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई और जिसने कितने ही असभ्य और अर्द्ध-सभ्य देशों को शिक्षा और सभ्यता सिखाई, वही भारत आज औरों का मुखापेक्षी हो रहा है। जिस भारत के जहाज महासागरों को पार करके अपने वाणिज्य की वस्तुओं से दूसरे देशों को पाटते रहते थे वही भारत आज सुई और दियासलाई तक के लिए विदेशों का मुहताज हो रहा है। यह सब उसी के कृत कर्मों का परिपाक है। बेचारे दैव का इसमें क्या दोष? महाकवि भारवि ने लिखा है—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥

जिनके बल, वीर्य्य, पराक्रम और सम्पत्ति का नाश दूसरों ने नहीं कर डाला वे यदि दैवयोग से, विपत्ति-ग्रस्त हो जायँ तो विशेष परिताप की बात नहीं। ऐसी दशा में तो सन्तोष मनाने के लिए भी जगह रहती है। तब तो यह भी कहा जा सकता है कि बात उपाय के बाहर थी; क्या करें; लाचार होना पड़ा। परन्तु जिनका पराभव उन्हीं की मूर्खता और बेपरवाही के कारण दूसरों के द्वारा हो जाता है उन्हें तो डूब मरना चाहिए। वे तो मुँह दिखाने लायक़ भी नहीं रह जाते। उनकी दुर्गति देख कर तो कलेजा मुँह को आता है।

इस संग्रह में कुछ ऐसे लेखों का प्रकाशन किया जाता है जिनसे भारत के प्राचीन गौरव की धूमिल-सी, कुछ थोड़ी, झलक देखने को मिलेगी। कहाँ कम्बोडिया, कहाँ सुमात्रा और जावा आदि द्वीप और कहाँ तुर्किस्तान तथा अफ़ग़ानिस्तान। पर किसी समय, वहाँ सर्वत्र भारतीयों ही की सत्ता और प्रभुता का प्रभाकर देदीप्यमान था। इन लेखों के पारायण से और कुछ नहीं तो हमें अपने पूर्व-रूप का कुछ तो आभास अवश्य ही मिल सकता है। अतएव यदि इस संग्रह से और कोई लाभ न हो तो भी इसका प्रकाशन निरर्थक नहीं माना जा सकता। यदि हमें इससे इतने ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाय कि हमारा भूत-कालिक गौरव कैसा और कितना था तो, इसी को बहुत

सड़ना चाहिए। सामयिक पुस्तकों की जिल्दों में बिखरे पड़े रहने से इन लेखों की प्राप्ति सुलभ न थी। इसीसे इन्हें इस रूप में, एकत्र प्रकाशित करना पड़ा। जो अपनी वर्तमान दुःस्थिति में भी अपनी पूर्वकथा नहीं सुनना चाहते वे चाहें तो इस संग्रह के केवल अन्तिम तीन लेखों से अपना मनोरञ्जन ही कर लेने की उदारता दिखावें।

अभिन्नात्मा समझे जाने के कारण कुछ अन्य लेखकों के लेख भी इसमें शामिल कर लिये गये हैं।

दौलतपुर (रायबरेली)
२ जनवरी १९२९

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

पुरातत्त्व का पूर्वेतिहास	१
प्राचीन हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा ...	२५
प्राचीन भारत में नाट्यशालायें ...	४४
कम्बोडिया में प्राचीन हिन्दू-राज्य ...	५०
महात्मा अगस्त्य की महत्ता ...	६०
सुमात्रा और जावा आदि द्वीपों में प्राचीन हिन्दू-सभ्यता	६८
तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतें ...	८७
अफ़ग़ानिस्तान में बौद्धकालीन चिन्ह ...	९४
मध्यएशिया के खँडहरों की खुदाई का फल	१०५
द्रविड़जातीय भारतवासियों की सभ्यता की प्राचीनता	११४
मिशमी जाति	१३७
कालेपानी के आदिम असभ्य ...	१४६
मैडेगास्कर-द्वीप के मूल निवासी ...	१६०

पुरातत्त्व-प्रसङ्ग

पुरातत्त्व का पूर्वेतिहास

गुजरात की पुरातत्त्व-ग्रन्थावली के तीसरे ग्रन्थाङ्क में इस देश के पुरातत्त्व के इतिहास पर जो लेख प्रकाशित हुआ है उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

पुरातत्त्व संस्कृत-शब्द है। वह अँग्रेज़ी शब्द Antiquity के अर्थ में व्यवहार होता है। पुरानी वस्तुओं का तत्व जानना, उनकी रक्षा करना, उनके विषय में गवेषणा करना, उनके सम्बन्ध की भूलों और भ्रमों का निरसन करना आदि इस शास्त्र के जाननेवालों का काम है।

प्राणियों में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी में सब से अधिक ज्ञान का विकास पाया जाता है। जिसमें ज्ञान की मात्रा जितनी ही कम है वह मनुष्य उतना ही अधिक पशुत्व की ओर झुका हुआ समझा जाता है। इसी तरह जिसमें उसकी मात्रा

अधिक है वह उतना ही अधिक ईश्वरत्व अथवा सर्वज्ञत्व की ओर झुका हुआ समझा जाता है। कोई मनुष्य आज तक सर्वज्ञ हुआ है या नहीं, इसका तो पता नहीं; परन्तु, हाँ, ज्ञान के न्यूनाधिकत्व के अनुसार किसी में अल्पज्ञता और किसी में बहुज्ञता ज़रूर ही पाई जाती है।

संसार में आज तक असंख्य ज्ञानवान् मनुष्य उत्पन्न हो चुके हैं। वे सब अपनी अपनी ज्ञान-शक्ति के अनुसार ज्ञानमूलक वस्तुओं के रूप में न मालूम कितनी मिलकियत छोड़ गये हैं। उन सबका मिश्रित ज्ञान-भाण्डार इतना है जिसकी थाह नहीं। तथापि, फिर भी, कोई मनुष्य यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि जानने योग्य सभी बातें जान ली गई हैं। सच तो यह है कि यह सृष्टि अब तक भी प्रायः अज्ञेय या अज्ञात वस्तुओं से ही अधिकतर भरी पड़ी है। इस जगत् के विषय में प्राचीन ऋषि जैसे कहते थे—

को ददर्श प्रथमं जायमानम्

अथवा, को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आ जाता: कुत इयं विसृष्टि:

वैसे ही आज कल के भी—इस बीसवीं शताब्दी के भी—ज्ञानी पुरुष कहते हैं। इस विषय में न पुराने ज्ञानियों ही को सफलता हुई और न आजकल

के नवीनों ही को। बात पूर्ववत् ही अज्ञात है। इसी से ज्ञान-सम्पादन की जिज्ञासा ज्यों की त्यों बनी हुई है।

श्रम, खोज, विचार, विवेक आदि की सहायता से ज्ञान-वृद्धि ज़रूर हो रही है। एक समय वह था जब आकाश में सहसा मेघ मँडराते, आँधी आते और जङ्गलों में आग लग जाते देख वैदिक ऋषियों को आश्चर्य होता था। वे भयभीत हो उठते थे और प्राकृतिक घटनाओं को दैवी कोप समझ कर उनसे परित्राण पाने के लिए इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की शरण जाते थे। पर जैसे ही जैसे वे विश्व-रहस्य का ज्ञान प्राप्त करते गये वैसे ही वैसे यथार्थ बात उनकी समझ में आती गई; उनका भय दूर होता गया; पानी बरसने, हवा ज़ोर से चलने और आग लग जाने का यथार्थ कारण वे जानते गये।

इस तरह का ज्ञान-समूह अनन्त काल से सञ्चित होता चला आ रहा है। उसके सञ्चय का कोष ही इतिहास है। इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य केवल अपने समय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, भूत-भविष्यत् का नहीं। जो ज्ञान इन्द्रियातीत है उसकी प्राप्ति वह नहीं कर सकता। संसर्ग और अनुभव के अतीत ज्ञान की प्राप्ति उसे यदि हो सकती है तो इतिहास ही की बदौलत हो सकती है। समय समय का ज्ञान यदि इतिहास-बद्ध होता चला गया

तो वह सब एकत्र रहता है और आगे की पीढ़ियों के काम आता है।

दुःख की बात है कि हमारे पूर्वजों का रचा हुआ सच्चा और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं। अपने देश के ज्ञान-समूह का सञ्चय उन्होंने इतिहास-मञ्जूषा के भीतर नहीं बन्द किया और यदि किया भी हो तो उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं पाया जाता। दूर की बातें जाने दीजिए, सौ दो सौ वर्ष पहले की भी घटनाओं का यथार्थ वृत्तान्त प्राप्त नहीं। और कहाँ तक कहें जिसके संवत् का उल्लेख हम लोग प्रतिदिन सङ्कल्प में करते हैं उस तक के विषय में निश्चयपूर्वक हम यह नहीं कह सकते कि वह कौन था, कब हुआ और क्या क्या काम उसने किये। हमारे इस दुर्भाग्य का भी भला कहीं ठिकाना है! भोज-प्रबन्ध आदि के ढँग की जो पुस्तकें मिलती हैं वे इतिहास नहीं। वे तो कल्पित कहानियों की परम्परा-मात्र हैं। भोज-प्रबन्ध में कालिदास, बाण, माघ आदि कवि भोज के समकालीन बताये गये हैं, यद्यपि वे उसके सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे!

यद्यपि हमारे पूर्वजों का लिखा हुआ यथार्थ इतिहास उपलब्ध नहीं तथापि उनकी निर्माण की हुई ऐसी अनन्त सामग्री विद्यमान है जिसकी सहायता से हम प्राचीन समय की घटनाओं का बहुत कुछ ज्ञान

प्राप्त कर सकते हैं और उस समय के इतिहास की रचना भी कर सकते हैं। यह सामग्री प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रपत्र, कीर्तिस्तम्भ, सिक्के, मन्दिर, स्तूप, किले, प्रासाद आदि के रूप में विद्यमान हैं। परन्तु इतिहास के महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण हम लोगों ने इस सामग्री से भी लाभ नहीं उठाया—अपने आप इतिहास-रचना का सूत्रपात तक नहीं किया। भारत के प्राचीन इतिहास के निर्म्माण का पाठ हमें पढ़ाया है सात समुद्र पार रहनेवाले पश्चिमी देशों के निवासियों ने। उन्होंने इसका पाठ ही हमें नहीं पढ़ाया, इतिहास का कुछ अंश स्वयं ही निर्म्माण करके हमारे सामने रख भी दिया है। इसके प्रारम्भ का श्रेय इंगलिस्तान की निवासिनी अंगरेज जाति को है। अतएव इस विषय में हम लोग उसके कृतज्ञ हैं।

कैसी है ? उनके रीति-रस्म कैसे हैं ? उनके पूर्वजों की दशा कैसी थी ? इत्यादि। अतएव वह उनकी लिपि, उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति, उनकी कला-कुशलता आदि से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करता है, और धीरे धीरे उनके धर्म्म, समाज और इतिहास आदि विषयों का ज्ञान-सम्पादन करने में लग जाता है। पहले पहल व्यापार करने और तदनन्तर भारत में अपना राज-चक्र चलाने के लिए आये हुए अँगरेज़ों ने, इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर, इस देश के इतिहास की खोज का उपक्रम किया था।

पलासी के युद्ध के बाद अँगरेज़ों की ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्राबल्य इस देश में बढ़ने लगा। १७७४ ईसवी में उसने बङ्गाले के तत्कालीन नवाब को पदच्युत करके उस प्रान्त के शासन का सूत्र, अपना गवर्नर जनरल नियत करके, उसके हाथ में दे दिया। अतएव अँगरेज़-कर्म्म-चारियों की संख्या-वृद्धि होने लगी। इन कर्म्मचारियों में कितने ही विद्वान् और सुशिक्षित थे। उन्हीने पहले पहल भारत के पुरावृत्त के निर्माण का श्रीगणेश किया। पीछे से तो फ्रांस, जर्मनी और आस्ट्रिया आदि देशों के निवासियों ने भी इस काम में हाथ लगाया और अँगरेज़ों की अपेक्षा इन्हीं लोगों ने भारतीय इतिहास का अधिक उद्धार किया। परन्तु काम का आरम्भ ईस्ट इंडिया

कम्पनी के अँगरेज़-कर्म्मचारियों ही ने किया और उसकी सफलता के बहुत कुछ साधन भी उन्हीं लोगों ने प्रस्तुत किये।

सर विलियम जोन्स पहले अँगरेज़ थे जिन्होंने संस्कृत-भाषा का ज्ञान-सम्पादन किया। इस काम में उन्हें बड़ी बड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ा। पण्डितों की दृष्टि में वे म्लेच्छ थे। म्लेच्छ को संस्कृत पढ़ा कर भला कौन धर्म्म-भीरु पण्डित अपनी धर्म-हानि करेगा? परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ होने के कारण, सभी आगत विघ्नों के पार जाकर जोन्स साहब ने काफी संस्कृत-ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत सीख कर उन्होंने शकुन्तला-नाटक, और मनुस्मृति का अनुवाद अँगरेज़ी में प्रकाशित किया। उन्हें देख कर योरप के विद्वानों में खलबली मच गई। उन्होंने कहा, जिस जाति के ज्ञानभाण्डार में ऐसी ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं उसका भूतकाल बड़ा ही उज्ज्वल रहा होगा; उसमें ऐसे ऐसे न मालूम और कितने ग्रन्थ-रत्न पड़े होंगे; अतएव इस जाति के पूर्वेतिहास से परिचय प्राप्त करने से अनेक लाभ होने की सम्भावना है।

इस प्रकार की सम्भावना से प्रेरित होकर कई अँगरेज़ इस देश के पुराने ग्रन्थों का पता लगाने और उनके अनुशीलन में प्रवृत्त होगये। इस प्रवृत्ति—इस ज्ञान लिप्सा—का फल यह हुआ कि सर विलियम जोन्स

ने, तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्ज की सहायता से, कलकत्ते में, १५ जनवरी १७७४ को, एशियाटिक सोसायटी नाम की एक संस्था की संस्थापना की। इस संस्था ने एशियाखण्ड के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म्म, समाज और विज्ञान आदि विषयों के सम्बन्ध में खोज करना अपना उद्देश निश्चित किया। बस, इस सभा की स्थापना के साथ ही भारतवर्ष के इतिहास अर्थात् पुरातत्त्व के अन्वेषण का शुभ काम आरम्भ हुआ। परन्तु इस कार्य्यारम्भ के पहले ही सैकड़ों प्राचीन इमारतें नष्टभ्रष्ट होगईं; सैकड़ों शिलालेखों की सिलें और लोढ़े बन गये; सैकड़ों शिलालेख मकानों की दीवारों में चुन दिये गये; सैकड़ों दानपत्रों के ताम्रफलक गलाकर घड़े, लोटे तथा और बर्तन बना डाले गये। प्राचीन ग्रन्थ कितने गले, कितने कीटभक्ष्य बने, कितने पंसारियों की दूकानों में पहुँचे, इसका तो कुछ हिसाब ही नहीं। ख़ैर, भारत के सौभाग्य से इस नई संस्थापित संस्था ने इन पुरानी वस्तुओं की रक्षा का सूत्रपात कर दिया।

सर विलियम जोन्स के अनन्तर चार्ल्स विलकिन्स ने संस्कृत भाषा सीखी। उन्हीं के प्रयत्न से देवनागरी और बँगला-टाइप तैयार हुआ। उन्होंने कुछ पुराने लेख भी ढूँढ निकाले और उन पर विवेचनापूर्ण नोट भी लिखे। भगवद्गीता का अँग्रेज़ी-अनुवाद भी उन्होंने किया।

एशियाटिक सोसायटी ने एशियाटिक रीसर्चेज नाम की एक पुस्तक-माला निकालना आरम्भ किया। १७८८ से १७९७ ईसवी तक इस माला के ५ भाग निकले। जो भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न पुरातत्त्व विषयों के अध्ययन में लगे हुए थे उनके लेख इसी माला में निकलते रहे। इसकी बड़ी क़दर हुई। इसके कई संस्करण इँगलैंड में भी निकले। एक फरासीसी विद्वान् ने इनका अनुवाद अपनी भाषा में प्रकाशित किया। इस प्रकार भारतीय पुरातत्त्व के संबंध में योरपवालों ने भी योगदान आरम्भ कर दिया। नये नये पुरातत्त्वज्ञ पैदा होगये और यह काम झपाटे से होने लगा।

सर विलियम जोन्स की मृत्यु के बाद १७९४ में, उनका स्थान हेनरी कोलब्रुक ने ग्रहण किया। वे भी अच्छे संस्कृतज्ञ थे। उन्होंने इस देश के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे। "हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रवाज", "भारतीय-वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति", "संस्कृत और प्राकृत-भाषा", "संस्कृत और प्राकृत-छन्दः-शास्त्र" आदि बड़े ही महत्त्व-पूर्ण लेख उन्होंने प्रकाशित किये। वेद, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, कृषि, वाणिज्य, समाज-व्यवस्था, कानून, धर्म्म, गणित, ज्योतिष इत्यादि अनेक विषयों पर भी बड़े ही गवेषणा-पूर्ण लेख उन्होंने लिखे। इन लेखों में निर्दिष्ट बातों और

सिद्धान्तों को उनके परवर्ती विद्वान् आज तक सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। कोलब्रुक ने देहली के स्तम्भ पर उत्कीर्ण विशालदेव की संस्कृत-प्रशस्ति का भी अनुवाद, अँग्रेजी मे किया। १८०७ ईसवी में वे एशियाटिक सोसायटी के सभापति हुए और उसी साल उन्होंने भारतीय ज्योतिष और खगोल-विद्या पर एक गहन ग्रन्थ प्रकाशित किया। भारत से चले जाने पर उन्होंने इँगलैंड में रायल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की और संस्कृत-भाषा सीखने तथा भारतीय पुरातत्त्व का ज्ञान-सम्पादन करने के विषय में लोगों को ऐसा चसका लगा दिया कि दिन पर दिन नये नये संस्कृतज्ञ और पुरातत्त्वज्ञ पैदा होने लगे। यदि कोलब्रुक के सदृश प्रकाण्ड पण्डित इस ओर इतना ध्यान न देते तो योरप में संस्कृत-भाषा का इतना प्रचार शायद ही होता।

कोलब्रुक साहब के साथ ही भारत में अन्य अँगरेज़ भी पुरातत्त्व-विषयक काम में लग गये थे। डाक्टर बुकनन ने मैसूर-प्रान्त में, वहाँ के प्राचीन पदार्थों के विषय में, बहुत कुछ ज्ञान-सम्पादन किया। इस बात से सन्तुष्ट होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने, १८०७ ईसवी में, उनको एक विशिष्ट पद पर नियुक्त किया। उस पर रह कर उन्होंने बङ्गाल, आसाम और बिहार के कितने ही ज़िलों में दौरे करके वहाँ के पुरातत्त्व की खोज की और अनेक अज्ञात

ऐतिहासिक बातों का पता लगाया। इधर पश्चिमीय भारत में साल्ट साहब ने कनेरी-गुफाओं का और रस्किन साहब ने हाथी-गुफाओं (Elephanta Caves) का वृत्तान्त लिखा। ये वर्णन बाम्बे ट्रांजैक्शन्स (Bombay Tranjactions) नाम की पुस्तक के पहले भाग में प्रकाशित किये गये। इसी पुस्तक के तीसरे भाग में साइक्स साहब का लिखा हुआ बीजापुर का ऐतिहासिक वर्णन प्रकट हुआ। दक्षिणी भारतवर्ष के पुरातत्त्व के वर्णन तो कई विद्वानों ने प्रकाशित किये। इस काम का आरम्भ टामस डानियल ने किया। कर्नल मेकंजी ने सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थ और शिलालेख ढूँढ़ ढूँढ़ कर एकत्र किये। राजपूताने और मध्य भारत की पुरानी बातों को खोज निकालने में कर्नल टाड ने बड़ा नाम पाया।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में, पुरातत्त्व-विषयक ज्ञान और सामग्री प्राप्त करने में, कितने ही विद्वान् लग गये। उनके लेखों और ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक अज्ञात और विस्मृत वस्तुओं के ज्ञान का उद्धार हुआ।

इस प्रणाली से थोड़ा-बहुत काम तो अवश्य हुआ; पर पुराने शिलालेख और ताम्रपत्र आदि जो अब तक मिले थे वे वैसे ही बिना पढ़े पड़े थे। क्योंकि उनकी लिपि पुरानी होने के कारण पढ़ी नहीं जा सकती थी। जिस

लिपि को हम देवनागरी कहते हैं वह विकसित लिपि है। वह तीन रूपान्तर प्राप्त करने के अनन्तर अपने वर्तमान रूप में आई है। उसका पहला रूप ब्राह्मी कहाता है। वह सन् ईसवी के ५०० वर्ष पहले से लेकर प्रायः ३५० ईसवी तक पाया जाता है। इसके अनन्तर उसे जो रूप मिला वह गुप्त-लिपि के नाम से अभिहित है। वह विशेष करके गुप्तवंशी नरेशों के शासन-समय मे—अर्थात् सन् ईसवी के पाँचवें शतक तक—प्रचलित थी। उसके बाद का उसका विकसित रूप कुटिल-लिपि के नाम से उल्लिखित है। उसका प्रचार ईसा के छठे से लेकर दसवें शतक तक माना जाता है। इससे पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि हमारी वर्तमान देवनागरी लिपि के पुराने तीनों रूपों से परिचित हुए बिना पुराने ग्रन्थों और उत्कीर्ण लेखों का पढ़ा जाना असम्भव है। ये रूप धीरे धीरे दुर्बोधता से सुबोधता की ओर पहुँचते गये हैं। जो लिपि जितनी ही अधिक पुरानी है, अपरिचित होने के कारण, वह उतनी ही दुर्बोध भी है।

पहले पहल चार्ल्स विलकिन्स ने पुरानी लिपि में लिखे गये अर्थात् उत्कीर्ण लेख पढ़ने की चेष्टा की। दीनाजपुर ज़िले में एक स्तम्भ के ऊपर खुदे हुए, राजा नारायणपाल के समय के, एक लेख का उद्धार उन्होंने, १७८५ ईसवी में, किया। पण्डित राधाकान्त शर्मा ने

देहली के अशोकस्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण ३ लेख पढ़े। ये लेख चौहान राजा बीसलदेव के थे। इनमें से एक का समय "संवत् १२२० वैशाख सुदी ५" ज्ञात हुआ। जे० एच० हैरिंगटन ने भी कई पुराने लेखों को पढ़ा। इन सबकी लिपि बहुत पुरानी न थी। इससे ये लेख थोड़े ही परिश्रम और मनोयोग से पढ़ लिये गये। विशेष कठिन लिपि है गुप्तकालीन देवनागरी। चार्ल्स विलकिन्स ने उसके पढ़ने के लिये कोई चार वर्ष तक परिश्रम किया। अन्त में उन्होंने इस लिपि की प्रायः आधी वर्णमाला से परिचय प्राप्त कर लिया। उधर और लोग भी पुरानी लिपियाँ पढ़ने की चेष्टा में सतत लगे हुए थे। उनमें से कर्नल जेम्स टाड, मिस्टर बी० जी० बैबिंगटन, वाल्टर इलियट, कैप्टन ट्रायर, डाक्टर मिल, डब्लू० एच० बाथ के नाम सबसे अधिक उल्लेखयोग्य हैं। किसी ने राजपूताने के कुछ पुराने लेख पढ़े, किसी ने वल्लभी के, किसी ने प्रयाग के, किसी ने और प्रान्तों के। बैबिंगटन और इलियट ने प्राचीन तामिल और कानडी-लिपियों की वर्णमालाओं का अधिकांश ज्ञान-सम्पादन करके उन लिपियों में उत्कीर्ण कितने ही शिलालेख पढ़ डाले। इस प्रकार १८५३ ईसवी तक बहुत से पुराने लेखों का उद्धार होगया। इस काम में जेम्स प्रिसेप-नाम के एक विद्वान् ने बड़ा काम किया। उन्होंने देहली,

कमाऊँ और एरण के स्तम्भों के ऊपर के, साँची और अमरावती के स्तूपों के ऊपर के, और गिरनार-पर्वत के ऊपर के अनेक लेख पढ़ डाले और उनके अनुवाद भी, विवेचना-सहित, प्रकाशित कर दिये। सो इन अनेक विद्वानों के सतत परिश्रम का फल यह हुआ कि गुप्तकालीन लिपि का सारा भेद खुल गया। वह हस्तामलकवत् होगई। उसमें उत्कीर्ण लेख अच्छी तरह पढ़ लिये जाने लगे। रहे कुटिल-लिपि में लिखे गये या उत्कीर्ण ग्रन्थ और शिलालेख आदि, सो यह लिपि वर्तमान देवनागरी लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इससे उनके पढ़े जाने में विशेष कठिनता न हुई। वे तो सहज ही पढ़ लिये गये।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों ने जब कुटिल-लिपि और गुप्त-लिपि को आयत्त कर लिया तब सन् ईसवी के चौथे शतक के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवें शतक तक के प्राचीन भारत के इतिहास का बहुत कुछ अंश अँधेरे से उजेले में आने लगा। सैकड़ों शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के पढ़े जाने और उन पर विवरणात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। जिन अनेक प्राचीन राजों और राजवंशों के नाम तक न सुने गये थे उनके ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित होने लगे।

परन्तु भारत की सबसे पुरानी ब्राह्मी लिपि को तब तक भी कोई न पढ़ सका था। इस लिपि में खुदे हुए

लेख थे। इसके बाद ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण और भी अनेक लेख मिलते गये।

इन लेखों को पढ़ लेने की सबसे अधिक जिज्ञासा जेम्स प्रिंसेप के हृदय में उत्पन्न हुई। उन्होंने अनेक लेखों की छापें मँगा कर सामने रक्खीं और लगे सबको परस्पर मिलाने। धीरे धीरे उन्हे कुछ वर्ण, रूप में एक ही से, मालूम हुए। उनको वे अलग करते गये और अन्त में वे इस लिपि के स्वरों से परिचित होगये। इससे उनका उत्साह बढ़ा। वे और वर्णों को भी पहचानने की चेष्टा करने लगे। गुप्त-लिपि के वर्णों से मिलान कर करके उन्होंने कितने ही व्यञ्जनों से भी परिचय प्राप्त कर लिया। इस काम में पादरी जेम्स स्टीवन्स आदि ने भी उनकी कुछ सहायता की। उन्होंने भी कुछ वर्ण पहचाने। इस प्रकार अनवरत उद्योग करते करते प्रिंसेप को इस लिपि का पूरा ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्हें यह भी मालूम होगया कि इस लिपि में खुदे हुए अशोक के समय के इन लेखों की भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत है। इलाहाबाद, साँची, गिरनार, धौली आदि के अशोक स्तम्भों के लेखों को पढ़ लेने पर उन्होंने यह पूर्वोक्त निष्कर्ष निकाला जो सर्वथा सच था। इस वर्णमाला का ज्ञान हो जाने पर ब्राह्मी लिपि के लेख धड़ाधड़ पढ़े जाने लगे और सन् ईसवी के पहले के भी भारतीय-

इतिहास की घटनायें प्रकाश में आने लगीं। यह बहुत बड़ा काम हुआ। इसका सारा श्रेय जेम्स प्रिंसेप को मिला।

बस, अब भारत की पुरानी लिपियों में से केवल एक लिपि का ज्ञान-सम्पादन करना शेष रहा। उसका नाम है खरोष्ठी। यह लिपि पुराने जमाने में केवल पञ्जाब और उसके आगे गान्धार देश ही के लेखों आदि में, सन् ईसा के तीन चार सौ वर्ष पहले तक, प्रयुक्त हुई थी। बाक्ट्रियन ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशों के समय के सिक्कों पर यही लिपि व्यवहृत हुई थी। अफ़गानिस्तान की सीमा और उस देश के भीतर भी पाये गये अशोक के कई अभिलेख भी इसी लिपि में हैं। इसे पहले कोई ससेनियम लिपि कहता था, कोई पहलवी, कोई ब्राह्मी का ही पूर्वरूप, कोई कुछ, कोई कुछ। पर पढ़ कोई नहीं सका। उधर मिले हुए सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि को देख कर मेसन साहब ने अन्दाज़न कुछ नाम पढ़े; यथा मिनेंड्रो, अपोलोडोटो, अरमाइयो आदि। ग्रीक नाम पढ़ कर, कुछ कुछ अक्षर साम्य के आधार पर, उन्होंने इस तरह का अन्दाज़ा किया। उन्होंने इस विषय में प्रिंसेप साहब से लिखा पढ़ी की। उन्होंने कई नामों और कई पदवियों को पढ़ लिया। इस प्रकार खरोष्ठी-लिपि के कई अक्षरों

का उद्घाटन होगया। साथ ही यह भी मालूम होगया कि यह लिपि अरबी-फारसी-लिपि के सदृश दाहिनी तरफ़ से बाईं तरफ़ को लिखी जाती है। और सेमेटिक वर्ग की है। पर इस लिपि में लिखी गई भाषा कौनसी है, इसका पता तब तक भी नहीं लगा। १८३८ ईसवी में बाक्ट्रिया के ग्रीकों के कुछ सिक्कों पर पाली-भाषा के लेख मिले। इस पर यह सन्देह हुआ कि खरोष्ठी-लिपि वाले लेखों की भी भाषा हो न हो पाली ही होगी। यह अनुमान सच निकला। अतएव इस लिपि में लिखी हुई भाषा का भी पता लग गया। इस भाषा-ज्ञान की सहायता से प्रिंसेप साहब ने खरोष्ठी के १७ अक्षर पढ़ लिये। अवशिष्ट अक्षरों में से कुछ नारिस साहब ने और कुछ जनरल कनिंहाम ने पढ़े। इस तरह इस वर्णमाला का भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगया और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का मार्ग यथेच्छ खुल गया।

"एन्श्यंट इंडियन अल्फाबेट" नाम की पुस्तक में इस विषय का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। कितनी कठिनाइयों को पार करके और कितने अजस्र उद्योग करने के अनन्तर प्राचीन लिपियों को पढ़ लेने में सफलता हुई, इसका अन्दाज़ा पूर्वोक्त लेख पढ़ने पर ही हो सकता है। इस काम में सबसे अधिक सफलता प्रिंसेप साहब ही को हुई। अतएव हम भारतवासियों को उनका विशेष कृतज्ञ

होना चाहिए। यही मत जनरल कनिंहाम का भी है। जनरल साहब ने पुरातत्त्व विषयक जो पुस्तक-माला लिखी है उसके भी पहले भाग में उन्होंने इस विषय का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है। सम्भव है, मूल-लेखक ने अपने लेख का अधिकांश उसी की सहायता से लिखा हो।

प्रिंसेप के बाद कोई ३० वर्ष तक जेम्स फर्गुसन, मेजर किट्टो, एडवर्ड टामस, जनरल कनिंहाम, वाल्टर इलियट, मेडोज़ टेलर, टी बर्न्स, भाऊदाजी आदि कितने ही विद्वानों ने भारतीय पुरातत्त्व के काम को आगे बढ़ाया और नये नये ऐतिहासिक तत्त्वों का उद्घाटन किया। किसी ने उत्तरी भारत में काम किया। किसी ने पश्चिमी में, किसी ने दक्षिणी में। फर्गुसन ने पुरातन-वास्तुविद्या (Ancient Architecture) का ज्ञान प्राप्त करके पुस्तकें लिखीं। टामस ने पुराने सिक्कों की ज्ञान-प्राप्ति के लिए परिश्रम किया। मेजर किट्टो ने पुरानी चित्र-विद्या के उद्धार की चेष्टा की। टेलर ने मूर्ति-निर्म्माण-विद्या पर पुस्तक-प्रकाशन किया। जनरल कनिंहाम ने प्राची, खरोष्ठी, गुप्तकालीन—सभी लिपियों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करके सैकड़ों-हज़ारों शिलालेखों और दानपत्रों को, विवरणपूर्वक, प्रकाशित किया। इन लोगों की देखादेखी भारतीय विद्वान् भी ज्ञान-सम्पादन की इस शाखा की ओर झुके और पहले पहल बम्बई के डाक्टर भाऊदाजी ने कितने ही नवीन

शिलालेखों का प्रकाशन करके उन पर गवेषणापूर्ण लेख लिखे। साथ ही काठियावाड़ के निवासी पण्डित भगवान्-लाल इन्द्रजी और बङ्गाली विद्वान् डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने भी भारत के भूले हुए इतिहास के अनेक पृष्ठों पर प्रकाश डाला। यह सब काम इन लोगों ने निज के तौर पर, बिना किसी की आर्थिक सहायता के, किया।

१८४४ ईसवी में लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से सिफारिश की कि इस इतने महत्त्व के काम के लिए उसे मदद देनी चाहिए। इस बात को उसने मान तो लिया, पर कुछ किया कराया नहीं।

उस समय जनरल कनिंहाम संयुक्तप्रान्त के चीफ़ इंजिनियर थे। पुरातत्त्व से उनको प्रेम पहले ही से था। उनसे कम्पनी की यह शिथिलता नहीं देखी गई। उन्होंने एक योजना (स्कीम) तैयार करके गवर्नमेन्ट को भेजी और लिखा कि यदि यह काम गवर्नमेन्ट न करेगी तो फ्रेंच या जर्मन करेंगे। ऐसा होने से गवर्नमेन्ट की बड़ी बदनामी होगी। तब कहीं गवर्नर जनरल की सुषुप्ति भङ्ग हुई। उन्होंने उस योजना को मंजूर किया और १८५२ ईसवी में पुरातत्त्व-विभाग(Archeological Survey) की स्थापना हुई। कनिंहाम ही उसके डाइरेक्टर नियत हुए और इस काम के लिए उन्हें २५०) महीना अलौंस

मिलने लगा। यह बन्दोबस्त चन्दरोज़ा समझा गया और ९ वर्ष तक जारी रहा। इस बीच में कनिंहाम साहब ने पुरातत्त्व-विषयक ९ रिपोर्टें लिखकर प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टों का सम्बन्ध केवल उत्तरी भारत से है। गवर्नमेन्ट का ख़याल था कि यह काम थोड़े ही समय में समाप्त हो जायगा। पर कनिंहाम साहब की रिपोर्टें देख कर उसकी आँखें खुल गईं। उसे मालूम हो गया कि यह काम तो बड़े महत्व का है और शीघ्र समाप्त होने-वाला नहीं। तब, १८७२ ईसवी में, गवर्नमेन्ट ने सारे भारत में पुरातत्त्व विषयक-खोज कराने का निश्चय किया और कनिंहाम साहब ही को डाइरेक्टर जनरल बनाया। उनकी मदद के लिए उसने और विद्वानों को भी नियत किया। अतएव डाक्टर बर्जेस को भी यही काम दिया गया और १८७४ ईसवी में वे दक्षिणी भारत में खोज करने लगे।

१८८० ईसवी तक पुरातत्त्व-विभाग प्राचीन खोज तो करता रहा, पर प्राचीन इमारतों की रक्षा का भार प्रान्तिक गवर्नमेन्टों ही पर था। उन्होंने इस काम में बड़ी शिथिलता की। परिणाम यह हुआ कि पुरानी इमारतें नष्ट होने लगीं। तब उनकी रक्षा के लिए एक क्यूरेटर नियत हुआ। उसने (मेजर कोल ने) १८८१ से १८८३ तक "प्रिज़र्वेशन आफ् नेशनल मान्यूमेंट्स" नाम की

तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

१८८५ ईसवी में जनरल कनिंहाम ने पेंशन ले ली। तब तक वे पुरातत्त्व-सम्बन्धिनी २४ रिपोर्टें निकाल चुके थे। ये रिपोर्टें बड़ी बड़ी जिल्दो मे हैं। इनको पुरातत्त्व-विषयक ज्ञान की बहुत बड़ी निधि समझना चाहिए। ये कनिंहाम साहब के अलौकिक परिश्रम, उद्योग और योग्यता का अपूर्व साक्ष्य दे रही है। बिना इनका साद्यन्त पाठ किये कोई भी साक्षर मनुष्य भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

कनिंहाम साहब के बाद उनकी जगह डाक्टर बर्जेस को मिली। तब खोज के साथ ही संरक्षण का भी काम इसी महकमे को दिया गया। उसका विस्तार बढ़ाया गया, सारा भारत पाँच भागो या सरकिलों में बाँटा गया। प्रत्येक भाग के लिए एक एक सर्वेयर की योजना की गई। प्राचीन लेख पढ़ने के लिए एक विलायती पण्डित रक्खा गया और उसकी सहायता के लिए देशी विद्वानो की भी योजना हुई।

१८८९ ईसवी में बर्जेस साहब अपने घर गये। तब इस महकमे की कला उतरने लगी। इसके ख़र्च की जाँच-पड़ताल करने के लिए एक कमिटी बनाई गई। उसने ख़र्च में बहुत कुछ कतर-ब्योंत करने की सिफारिश की। वह स्वीकार हुई। कुछ सर्वेयर निकाले गये। डाइरेक्टर

जनरल का पद तोड़ दिया गया। सरकार ने कहा—बस ५ वर्षों में इसका काम ख़तम कर दिया जाय। परन्तु काम कुछ हुक्म के अधीन थोड़े ही रहता है। वह खतम न हुआ; उलटा बढ़ता दिखाई दिया। तब गवर्नमेन्ट ने हुक्म निकाला कि खोज का काम बन्द किया जाय; केवल संरक्षण का काम जारी रहे। तदनुकूल ही कार्यवाई होने लगी। यह उतरती कला १९०० ईसवी तक रही।

इसी बीच में लार्ड कर्जन गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने पुरातत्त्व के काम में बड़ी दिलचस्पी दिखाई और एक लाख रुपया वार्षिक ख़र्च मंजूर किया। १९०२ में मार्शल साहब विलायत से बुलाये गये और डाइ-रेक्टर जनरल नियत हुए। वही अब तक इस पद पर हैं। तब से इस महकमे का काम बहुत झपाटे से हो रहा है।

गवर्नमेन्ट की देखा देखी कई देशी रियासतो ने भी अपने यहाँ पुरातत्त्व-विभाग खोल दिये हैं और अजायबघरों की भी स्थापना की है। भावनगर, माइसोर, हैदराबाद, ट्रावनकोर आदि राज्य इस विषय में सबसे आगे हैं। सारनाथ, मथुरा, नागपुर, कलकत्ता, बम्बई, मदरास, लाहौर, लखनऊ, अजमेर आदि में जो अजायबघर हैं उनमें पुराने सिक्कों, चित्रों, शिलालेखो, ताम्रपत्रों और अन्य प्राचीन वस्तुओ के संग्रह को देखकर प्राचीन भारत की अनन्त ऐति-हासिक घटनाओं का दृश्य नेत्रों के सन्मुख आजाता है।

लन्दन में भी एक बहुत बड़ा प्राचीन पदार्थ-संग्रहालय है।

भारत के पुरातत्त्व की खोज करने के लिए अब तो फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस आदि में भी बड़ी बड़ी संस्थायें खुल गई हैं और अनेक सामयिक पुस्तकें निकल रही है। उनमें बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। ये संस्थायें सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थों का भी उद्धार कर रही हैं। इस विषय में जर्मनी के विद्वानों ने सबसे अधिक काम किया है और बराबर कर रहे है।

इस समय पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सामयिक पुस्तकें निकलती हैं। प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि के प्रकाशन के लिए भी—इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, इपीग्राफिया इण्डिका, इपीग्राफिया कर्नाटिका आदि—कई सामयिक पुस्तकें हैं। एक पुस्तक ब्रह्मदेश के प्राचीन लेख प्रकाशित करने के लिए अलग ही है।

इस महकमे ने भारत की प्राचीन कीर्ति की जितनी रक्षा की है उतनी और किसी ने नहीं की। इसी की बदौलत अनन्त स्तूपों, मन्दिरों, मसजिदों और ऐतिहासिक इमारतों की रक्षा हुई है। यदि यह महकमा अस्तित्व में न आता तो सहस्रशः प्राचीन नरेशों का नाम तक सुनने को न मिलता और अनेक प्राचीन राजवंशों के अस्तित्व तक का पता न लगता।

[जनवरी १९२३

प्राचीन हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा

कलकत्ते से एक सामयिक पत्रिका अँगरेज़ी भाषा में निकलती रही है। मालूम नहीं, वह अब तक अस्तित्व में है या नहीं। नाम उसका था—डान सोसायटीज़ मेगेज़ीन (Down Socities-Magazine)। उसकी कुछ संख्याओं में हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण और प्रमाण-पुष्ट लेख निकले थे। उन्हीं का आशय नीचे दिया जाता है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि हिन्दू सनातन ही से कूप-मण्डूकता के प्रेमी हैं। समुद्र-यात्रा के वे सदा ही से विरोधी रहे हैं। प्राचीन काल में वे विदेशों या विदेशियों से कुछ भी सम्बन्ध न रखते थे। अन्य देशों को आना-जाना या समुद्र-यात्रा करना वे पाप समझते थे। जहाज़ आदि जल-यान भी उनके पास न थे; न वे उन्हें बनाना ही जानते थे। उन्हें यह भी न मालूम था कि अपने देश के सिवा दुनिया में कोई और भी देश है। मतलब यह कि वे निरे कूप-मण्डूक बने अपने ही घर में मस्त रहते थे। पर वास्तव में यह बात नहीं। लोगों के ये ख़याल बिलकुल ही ग़लत हैं। प्राचीन काल के हिन्दू

व्यापार, धर्म्म-प्रचार, युद्ध या उपनिवेश-स्थापना आदि के लिए, जल-स्थल दोनो के द्वारा, नाना देशो में गमनागमन करते थे; उनके पास जहाज़ थे; दुनिया का भौगोलिक वृत्तान्त भी वे बहुत कुछ जानते थे। वे सभ्य, साहसी, उदार, व्यापार-कुशल, शिल्पकलानिपुण, वीर और अध्यवसायशील थे। उस समय के प्रायः सभी सभ्य और अर्द्ध-सभ्य देशो से उनका सम्बन्ध था। वैदिक और लौकिक संस्कृत-भाषा के कितने ही ग्रन्थों से इस बात के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं।

संसार में ऋग्वेद सबसे अधिक पुराना ग्रन्थ है। उसके भिन्न भिन्न ५ मन्त्रों* से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य, व्यापार आदि के लिए, समुद्र की राह,

---

*ऊपर जिन मन्त्रों का हवाला दिया गया है वे ये हैं—

(१) वेदा यो वीना यदमन्तारिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः (१-२५-७)

(२) उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे न श्रवस्य वः (१-४८-३)

(३) तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः
पतिं दक्षस्य विदमस्य नू सहो
गिरिं न वेना अधिरोह तेजसा। (१-५६-२)

अन्य देशों को जाते थे। उसमें एक जगह (१-२५-७) लिखा है कि समुद्र में जिस रास्ते जहाज़ चलते हैं उसका पूर्ण ज्ञान वरुण को है। दूसरी जगह (१-४८-३) लिखा है कि लोभ के वशीभूत होकर व्यापारी लोग अपने अपने जहाज़ विदेशो को ले जाते हैं। तीसरी जगह (१-५६-२) लिखा है कि व्यापारी बड़े ही कर्म्मशील हैं; वे अपने लाभ के लिए सब जगह जाते हैं; समुद्र का ऐसा कोई भी हिस्सा नहीं जहाँ वे न गये हों। चौथी जगह (७-८८-३,४) लिखा है कि एक जहाज़ के बनाने में बड़ी कारीगरी की गई थी। उस पर सवार होकर

---

(४) आ यद्रुहाव वरुणश्च नाव
प्रयत् समुद्रमीरयाव मध्यमम्।
अधियदपा स्नुभिश्चराव
प्रप्रेख ईखयावहै शुभे कम् ॥
वशिष्ठं ह वरुणो नाव्याधा दृषिं चकार स्वपामहोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अन्हा प्रान्नुद्यावस्ततनन्यादुषासः
(७-८८-३,४)

(५) तग्रो ह भुज्युभिश्चिनोदमेघ
रयिं न कश्चिन्ममृवा अवाहाः।
तमूहथु नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्ष
प्रद्भिरपोदकाभिः ॥ (१-११६-३

वशिष्ठ और वरुण समुद्र-यात्रा करने गये थे। उन्हें उसके हिलने से बड़ा आनन्द आया था। पाँचवीं जगह (१-११६-३) लिखा है कि राजर्षि तुग्र ने, सुदूर-द्वीप-निवासी अपने कुछ शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए, अपने पुत्र भुज्यु को जल-सेना के साथ, भेजा था। रास्ते में तूफ़ान आ जाने से जहाज़ टूट गया। इस कारण भुज्यु, अपने साथियों समेत, समुद्र में डूबने लगा। वहाँ, उस समय, उसे उस विपत्ति से बचानेवाला कोई न था। परन्तु दैव-योग से अश्विन् नाम के दो जोड़िया भाइयों ने आकर उसकी रक्षा की और वह डूबने से बच गया।

रामायण में ऐसे कितने ही श्लोक हैं जिनसे प्रकट होता है कि भारतवासी समुद्र की राह अन्यान्य देशों को जाते थे। जब वानरेन्द्र सुग्रीव बड़े बड़े वानरों को, सीताजी का पता लगाने के लिए, भेजने लगे तब उन्होंने उनको उन स्थानों के भी नाम बताये जहाँ सीता के मिलने की सम्भावना थी। जिन श्लोकों या श्लोक-खण्डों में उन नामों का उल्लेख है उन्हें हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

समुद्रमवगाढाँश्च पर्वतान् पत्तनानि च।
भूमिञ्च कोपकाराणां भूमिञ्च रजताकराम्।
यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णकरमण्डितम्।
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्।

इनमें से पहले श्लोकखण्ड में समुद्र के द्वीपों के पहाड़ों और नगरों का और दूसरे में कोषकारों की भूमि का उल्लेख है। कोषकारों की भूमि से मतलब वर्तमान चीन से है। तीसरे में यवद्वीप और सुवर्ण-द्वीप का नाम आया है। उन्हें आज-कल जावा और सुमात्रा टापू कहते हैं। चौथे में रक्त-सागर का उल्लेख है। वही वर्तमान लाल समुद्र (Red Sea) है। रामायण के अयोध्याकाण्ड में एक श्लोक* है, जिसमें जलयुद्ध की तैयारी का इशारा है। इससे मालूम होता है कि उस समय के लोग जङ्गी जहाज़ बनाना और समुद्र में युद्ध करना अच्छी तरह जानते थे। इसके सिवा रामायण में उन व्यापारियों का भी ज़िक्र है जो समुद्र-पार के देशों में जाकर व्यापार करते और वहाँ से अपने राजा को भेंट करने के लिए अच्छी अच्छी चीज़ें लाते थे।

महाभारत में भी कितने ही श्लोक भारतवर्ष तथा अन्य देशों के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। अर्जुन के दिग्विजय और राजसूय-यज्ञ के प्रसङ्ग में ऐसे कितने ही देशों के नाम आये हैं जो हिन्दुस्तान से बहुत दूर स्थित हैं। उस समय इस देश से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था

---

*नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठन्तीत्यभ्यचोदयत्॥

अथवा उन्हें पाण्डवों ने जीत लिया था। सभा-पर्व में लिखा है—

सागरद्वीपवासाँश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान्।
निषादान् पुरुषादाँश्च कर्णप्रावरणानपि॥
द्वीपं ताम्राह्वयश्चैव वशे कृत्वा महामतिः

इससे सिद्ध है कि महामति सहदेव ने सागरद्वीप-वासी म्लेच्छनरेशों और निषाद तथा कर्ण-जाति के लोगों को परास्त और वशीभूत किया था। उनमें ताम्रद्वीप का राजा भी शामिल था।

रामायण और महाभारत ही में नहीं, सूत्रग्रन्थों में भी इस बात का प्रमाण पाया जाता है कि प्राचीन भारत-वासी समुद्र की राह अन्य देशो से व्यापार करते थे। इस विषय में प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् अध्यापक बूलर ने लिखा है—

"दो अत्यन्त प्राचीन धर्म्मसूत्रों में भी समुद्र-यात्रा का उल्लेख पाया जाता है। बौधायन-धर्म्मसूत्रो मे एक जगह (२-२-२ में) लिखा है कि ब्राह्मणों को समुद्र-यात्रा न करनी चाहिए। परन्तु दूसरी जगह (१-२-४ में) लिखा है कि आर्य्यदेश के निवासी धड़ाधड़ समुद्र-यात्रा करते हैं। अन्यत्र लिखा है कि वे ऊन और पशुओं का व्यापार भी करते हैं। जहाज़ों के मालिकों को जो मह-सूल राजा को देना पड़ता था उसका उल्लेख भी बौधा-

यन-धर्म्मसूत्र (१-१८-१४) और गौतमीय-सूत्र (१०-२२) में पाया जाता है ।"

स्मृतियों में भी सामुद्रिक व्यापार के हवाले हैं । मनुस्मृति में एक जगह (३-१५८) लिखा है कि वह ब्राह्मण जिसने समुद्र-यात्रा की हो श्राद्ध में बुलाये जाने का पात्र नहीं । एक श्लोक* में लिखा है कि जो लोग समुद्र-यान में कुशल और देशकालार्थदर्शी हैं वे जहाज़ बनाने के लिए दिये हुए रुपये का जो सूद निश्चित करेंगे वही प्रामाणिक माना जायगा । एक और श्लोक† में नदी और समुद्र में चलने वाले जलयानों के किराये का ज़िक्र है । एक और जगह§ लिखा है कि समुद्र में जहाज़ चलानेवालों के दोष से यात्रियों के माल की जो हानि होगी उसके ज़िम्मेदार जहाज़ चलानेवाले ही होंगे । परन्तु जो हानि

---

*समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु या वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥

† दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरी भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥

§ यन्नावि किञ्चिद्दाशाना विशीर्य्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतेऽशतः ॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥

दैवी दुर्घटनाओं के कारण होगी उसके लिए वे उत्तरदाता न होंगे। याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्यवहाराध्याय में लिखा है—"ये समुद्रगा वृद्धया धनं गृहीत्वा अधिलाभार्थं प्राणधनविनाशशङ्कास्थानं समुद्रं गच्छन्ति ते विंशं शतं मासि मासि दद्युः।" इससे साफ़ ज़ाहिर है कि हिन्दू-लोग धन-प्राप्ति की इच्छा से समुद्र के बड़े बड़े भयङ्कर स्थानों तक की यात्रा करते थे।

पुराणों मे भी उन व्यापारियों का ज़िक्र है जो समुद्र की राह व्यापार करते थे। वाराहपुराण में गोकर्ण-नामक एक निःसन्तान व्यापारी का उल्लेख है। वह समुद्र-पार व्यापार करने गया था; परन्तु तूफ़ान आजाने से वह समुद्र मे डूब गया। इसी पुराण में एक जगह§ लिखा है कि एक व्यापारी ने कुछ रत्नपरीक्षकों के साथ मोतियों की तलाश में समुद्र-यात्रा की थी।

---

§ पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्र-याने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥
रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च।
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः॥
समुद्रयायिभिर्लोकैः सविदं सूच्य निर्गतः।
शुकेन सह सम्प्राप्तो महान्तं लवणार्णवम्॥
पोतारूढास्ततः सर्वे पोतवाहैरुपोषिताः।

वेद, रामायण, महाभारत, सूत्र-ग्रंथ, पुराण आदि के सिवा संस्कृत के गद्य-पद्य-काव्यों तथा अन्य ग्रन्थों में भी इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि प्राचीन आर्य्य व्यापार, धर्म्म-प्रचार या जल-युद्ध आदि के लिए समुद्र-यात्रा करते थे। महाकवि कालिदास के रघुवंश में एक जगह* (४-३६) लिखा है कि महाराज रघु ने एक बड़े ही विकट जल-युद्ध में वङ्ग-नरेश को परास्त किया था और गङ्गा के बीचोंबीच अपना जयस्तम्भ गाड़ा था। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थान† में लिखा है कि महाराज रघु ने फ़ारिस पर आक्रमण किया था, यद्यपि यह चढ़ाई स्थल ही की राह हुई थी। कविवर श्रीहर्ष की प्रसिद्ध नाटिका रत्नावली‡ में सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की एक कन्या का उल्लेख है, जो जहाज़ टूट जाने से बीच समुद्र में डूब गई थी और जिसे कौशाम्बी के कुछ

---

* वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भं गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु च॥

† पारसीकान् ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।

‡ अन्यथा क सिद्धादेशजनितप्रत्ययमप्रार्थितायाः सिहलेश्वरदुहितुः समुद्रे यानभग्ननिमग्नायाः फलकमादानं क च कौशाम्बीयेन वणिजा सिहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः सम्भावनम्।

व्यापारियों ने बचाया था। कविश्रेष्ठ दण्डी के दशकुमार-चरित * में लिखा है कि रत्नोद्भव नामक एक व्यापारी कालयवन-नामक टापू में गया। वहाँ उसने एक सुन्दरी का पाणिग्रहण किया, परन्तु घर लौटते समय, जहाज़ समेत, समुद्र-गर्भ में निमग्न हो गया। इसी ग्रन्थ में † मित्र-गुप्त का भी हाल है जो एक यवन-जलयान द्वारा कहीं गया था; परन्तु रास्ता भूल जाने के कारण एक अन्य अज्ञात टापू में जा पहुँचा था। महाकवि माघ के शिशु-पालवध में एक श्लोक ‡ है जिसमें लिखा है कि जब श्रीकृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर जाते थे तब उन्होंने देखा था कि कुछ व्यापारी विक्रयार्थ माल से भरे हुए जहाज अन्य देशों से लिये आ रहे थे तथा भारतवर्ष का माल

* ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्वशुरमनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोल-मालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्यमज्जत्।

† अस्मिन्नेव क्षणे नैकनौकापरिवृतः कोऽपि मद्गुः अभ्यधावत्। अभिभयुर्यवनाः। तावद-तिजवा नौकाः श्वान इव वराहमस्मत्पोत पर्यरुत्सत।

‡ विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः। तरीषु तत्रत्यमफल्गुभाण्ड स यात्रिकानावतोऽभ्यनन्दत्॥

अन्य देशों में बेचने के लिए यहाँ से जहाज़ों में लिये जा रहे थे।

काश्मीरक कवि सोमदेव के कथा-सरित्सागर में तो समुद्र-यात्रा और अन्य देशों में आने-जाने के सैकड़ों हवाले पाये जाते हैं। नवें लम्बक के पहले तरङ्ग में लिखा है कि पृथ्वीराज नामक राजा किसी चित्रकार के साथ एक जहाज़ से मुक्तिपुर-टापू को गया था। दूसरे तरङ्ग में लिखा है कि एक व्यापारी अपनी स्त्री के साथ किसी टापू को जा रहा था। राह में तूफ़ान आजाने से जहाज़ टूट गया और दोनों का चिरवियोग होगया। चौथे तरङ्ग में समुद्र-सूर तथा एक अन्य व्यापारी का उल्लेख है जो सुवर्ण-द्वीप (सुमात्रा नाम के टापू) में व्यापार करने गये थे। छठे तरङ्ग में लिखा है कि चन्द्रस्वामी नाम का एक व्यापारी जहाज़ पर चढ़ कर लङ्का आदि कितने ही टापुओं में अपने पुत्र को खोजने गया था। हितोपदेश नामक पुस्तक में भी कन्दर्पकेतु नाम के एक व्यापारी का उल्लेख है जिसने समुद्र-यात्रा की थी। राजतरङ्गिणी में एक श्लोक* है जिसमें लिखा है कि एक राजदूत को समुद्र में बड़ी ही भयङ्कर विपत्ति का सामना करना पड़ा था।

---

* सन्धिविग्राहिकः सोऽथ गच्छन् पोतच्युतोऽम्बुधौ।
प्राप पारं तिमिग्रासात्तिमिमुत्पाट्य निर्गतः ॥

इस तरह वेद, रामायण, महाभारत, सूत्र-ग्रन्थ, पुराण, काव्य, नाटक, उपाख्यान आदि संस्कृत-भाषा के सभी तरह के ग्रन्थों में भारत के सामुद्रिक व्यापार के हवाले भरे पड़े है। अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नही। जो प्रमाण दिये गये है उन्ही से यह अच्छी तरह सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में भारतवासी हिन्दू व्यापार या जलयुद्ध के लिए निःसङ्कोच समुद्र-यात्रा करते थे और अन्य देशों तथा टापुओं में जाते-आते तथा कभी कभी वहाँ बस भी जाते थे।

जो प्रमाण अब तक दिये गये वे सब हिन्दुओं के ग्रन्थों से दिये गये है। अब हम अपने कथन की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण बौद्धों के भी साहित्य से देना चाहते है।

महाराज विजय की समुद्र-यात्रा का वर्णन महावंश आदि कितने ही बौद्ध-ग्रन्थों मे पाया जाता है। राजावली मे लिखा है कि वङ्ग-नरेश महाराज सिंहबाहु ने राजकुमार विजय और उनके सात सौ साथियो को देश से निकाल दिया था। बात यह हुई कि उन्होंने प्रजा पर बहुत अत्याचार किया था। वे लोग, अपने बालबच्चो समेत, तीन जहाजों पर चढ़ कर चले। जहाज सिंहपुर नामक नगर के निकट से रवाना हुए थे। राह में वे सपारा नाम के बन्दरगाह में, कुछ समय तक, ठहरे थे।

डाक्टर बर्जेस का कथन है कि यह बन्दरगाह वर्तमान बेसीन नगर के पास था। अन्त में राजकुमार विजय लङ्का पहुँचे और यहाँ उन्होंने एक बड़े ही शक्तिशाली राजवंश की नींव डाली। लङ्का में उनकी स्थिति दृढ़ हो जाने पर विजय ने पाण्ड्य-देश के राजा के पास बहुत से जवाहरात, बतौर भेंट के, भेजे। इस पर पाण्ड्य-नरेश ने एक राजकुमारी और सात सौ परिचारिकायें महाराज विजय को नज़र कीं। उनको विजय और उसके साथियों ने क्रम से आपस में बाँट लिया और उनके साथ विवाह कर लिया। टर्नर साहब के द्वारा सम्पादित महावंश में लिखा है कि जिस जहाज़ पर पाण्ड्य-राजकुमारी लङ्का को लाई गई थी वह बहुत बड़ा था। उसमें १८ राजकर्म्मचारियों, ७० नौकर-चाकरो, बहुत से ग़ुलामों, स्वयं राजकुमारी और उसकी ७०० परिचारिकाओं के रहने के लिए काफ़ी जगह थी। विजय के कोई सन्तान न थी। इस कारण उसके मरने पर उसका भतीजा सागल-नगर से जहाज़ पर चढ़ कर लङ्का गया और विजय की जगह पर राज्य करने लगा। कुछ दिनों बाद उसके ६ भाई और उसकी स्त्री, ये लोग भी लङ्का चले गये और वहीं रहने लगे। महावंश के अनुसार गङ्गा के मुहाने से चला हुआ जहाज़ बारह दिन बाद लङ्का पहुँचता था।

एक बौद्ध-ग्रन्थ में लिखा है कि सपारक-निवासी पन्ना नाम का एक व्यापारी, अपने छोटे भाई चूल-पन्ना के साझे में, उत्तर-कोशल से व्यापार किया करता था। एक दिन श्रावस्ती में उसने बुद्ध को उपदेश करते हुए सुना। इसका प्रभाव उस पर इतना पड़ा कि वह तुरन्त बौद्ध हो गया। उसने लङ्का में रक्त-चन्दन की लकड़ी का एक विहार बनाने का इरादा किया। इसलिए उसने चन्दन की लकड़ी किसी दूरवर्ती देश से, समुद्र की राह, मँगवाई। जिस जहाज़ पर यह लकड़ी लादी गई थी वह इतना बड़ा था कि हज़ारों मन लकड़ी के सिवा उसमें तीन सौ व्यापारी भी मज़े से रह सकते थे। एक अन्य स्थान में लिखा है कि दो ब्रह्मदेशवासी व्यापारी, एक बड़े भारी जहाज़ पर वङ्ग-सागर को पार करके, कलिङ्ग-देश के अजित्ता वन्दर मे उतरे थे। वहाँ से वे मगध-देश को गये थे।

एक तिब्बतीय बौद्ध-ग्रन्थ में लिखा है कि श्रावस्ती के कुछ व्यापारी लङ्का जाते हुए, वङ्ग-सागर मे तूफ़ान आ जाने के कारण, रास्ता भूल गये थे; परन्तु तूफ़ान शान्त हो जाने के बाद अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गये थे। एक चीनी ग्रन्थ मे एक सिंहकुमारी का ज़िक्र है जिसका जहाज पश्चिमी वायु के झोंके खाकर फ़ारिस की खाड़ी में जा पड़ा था। वहाँ वह उतर पड़ी और समुद्र के

किनारे की भूमि में घर बनाकर वहीं रहने लगी। परन्तु दीपवंश नामक ग्रन्थ में लिखा है कि यह एक टापू में उतरी थी जिसका नाम, पीछे से, नारीपुर हो गया था। पादरी टी० फोक्स साहब कहते हैं कि इन ऐतिहासिक कथाओं से पता लगता है कि बुद्ध के ज़माने में हिन्दुस्तान और फ़ारिस के बीच के समुद्र में जहाज़ चलते थे।

विनयपीठक में लिखा है कि पूर्ण नाम के एक हिन्दू व्यापारी ने छः दफ़े समुद्र-यात्रा की थी। सातवीं दफ़े यात्रा करते समय श्रावस्ती के कुछ बौद्धों के द्वारा वह बौद्ध बनाया गया था। सूत्रपीठक में भी दूरवर्ती टापुओं को जहाज़-द्वारा जाने का ज़िक्र है। समयुत्त-निकाय और अँगुतर-निकाय नामक ग्रन्थों में लगातार छः महीने तक जहाज़ पर यात्रा करने का ज़िक्र है। दीर्घनिकाय में तो समुद्र-यात्रा-विषयक बड़ी ही मनोरञ्जक बातें पाई जाती हैं। उसमें लिखा है कि जब व्यापारी लोग समुद्र के रास्ते व्यापार करने जाते थे, तब वे अपने जहाज़ों पर कुछ चिड़ियाँ भी रख लेते थे, जिस समय जहाज़ बीच समुद्र में पहुँचता था और वहाँ से भूमि न देख पड़ती थी उस समय, यह जानने के लिए, कि भूमि किस तरफ़ है, व्यापारी लोग चिड़ियों को छोड़ देते थे। यदि भूमि निकट न होती थी तो चिड़ियाँ

चारों ओर चक्कर लगा कर जहाज़ पर लौट आती थीं। परन्तु यदि भूमि जहाज़ों से कुछ ही मील दूर होती थी तो चिड़ियाँ उसी की ओर उड़ जाती थीं। इससे जहाज़ चलानेवाले जान जाते थे कि भूमि किस तरफ़ है और वह कितनी दूर है।

समुद्र-यात्रा और सामुद्रिक व्यापार का सबसे अधिक और स्पष्ट उल्लेख जातक-ग्रन्थों में पाया जाता है। इन ग्रन्थों में ८०० ईसवी पूर्व से २०० ईसवी तक की सामुद्रिक बातों का ज़िक्र है। बवेरू-जातक से यह साफ़ तौर पर मालूम होता है कि अशोक के पहले हिन्दुस्तान और बाबुरु के बीच व्यापार होता था। परलोकवासी अध्यापक बूलर इस महत्त्वपूर्ण जातक के विषय में लिखते है कि—"बवेरू-जातक अब ख़ूब प्रसिद्ध हो गया है। उसकी ओर लोगों का ध्यान पहले-पहल अध्यापक मिनायाफ ने आकृष्ट किया था। उसमें लिखा है कि हिन्दू-व्यापारी मोरों को बवेरू ले जाते और उन्हें वहाँ बेचते थे। बबेरू, बबीरू या बेबीलोन एकही देश के भिन्न भिन्न नाम हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस जातक की कथाओं से मालूम होता है कि आज-कल की तरह ईसा के पहले, पाँचवीं और छठी शताब्दी में भी, भारत के वणिक फारिस के उपसागर के किनारे वाले प्रान्तों में सामुद्रिक व्यापार करते थे। सम्भव है कि

यह व्यापार अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया हो। क्योंकि जातकों में बहुत से ऐसे क़िस्से हैं जिनमें समुद्र-पार के सुदूरवर्ती देशों की सङ्कटापन्न यात्राओं का उल्लेख है। उनमें पश्चिमी किनारे के सपरिख (सपारा) और भरुकच्छ (भड़ोच) आदि अत्यन्त प्राचीन बन्दरगाहों का भी ज़िक्र है।"

समुद्बनिज-जातक में लिखा है कि किसी गाँव में बहुत से बढ़ई रहते थे। उनसे किसी ने बहुत सी चीज़ें बनाने को कहा और उनकी क़ीमत भी पेशगी दे दी। परन्तु बढ़इयों की नीयत ख़राब हो गई। इस कारण उन्होंने चुपके चुपके एक जहाज़ बनाया। उस पर चढ़ कर वे लोग चल दिये। उन्होंने समुद्र के बीच किसी टापू में एक बस्ती बनाई और वहीं बस गये। वलहास्स-जातक में कहीं के पाँच सौ व्यापारियों का ज़िक्र है जो एक कमज़ोर जहाज़ पर सवार थे। जहाज़ टूट गया और वे सब लोग समुद्र में मग्न हो गये; परन्तु एक अद्भुत घटना घटित होने से बच गये। सप्पारक-जातक में लिखा है कि किसी समय सात सौ व्यापारियों ने समुद्र-द्वारा एक बड़ी ही भयङ्कर यात्रा की थी। उनका जहाज़ भरुकच्छ-बन्दरगाह से रवाना हुआ था। इस जहाज़ का माँझी अन्धा होने पर भी जहाज़ चलाने में बड़ा निपुण था। महाजनक-जातक में एक राजकुमार का

उल्लेख है जो अन्य कितने ही व्यापारियों के साथ कम्प (भागलपुर) से सुवर्ण-भूमि को व्यापार करने जाता था। परन्तु दुर्भाग्य से उसका जहाज़ बीच समुद्र में डूब गया। किसी किसी विद्वान् की राय मे सुवर्ण-भूमि से मतलब ब्रह्मदेश से और किसी किसी की राय में सुमात्रा नाम के टापू से है। शङ्ख-जातक में लिखा है कि काशी में एक ब्राह्मण बड़ा दानी था। वह नित्य छः लाख रुपये का दान करता था। ऐसा न हो कि कहीं दान करते करते उसका धन निःशेष हो जाय, इसलिए उसने, धन की खोज में, सुवर्णभूमि जाने का सङ्कल्प किया। चलते चलते जब उसका जहाज़ बीच समुद्र में पहुँचा तब उसके पेंदे में कहीं छेद हो गया। परन्तु एक अन्य जहाज़ के आजाने से उसकी रक्षा हो गई। उस जहाज़वालों ने उसे अपने जहाज़ पर जगह दे दी। ससोंदी-जातक मे भी एक व्यापारी के सुवर्णभूमि जाने का उल्लेख है।

बौद्ध-ग्रन्थों के सब प्रमाणो से भी सिद्ध है कि प्राचीन काल में हिन्दू-लोग ब्रह्मदेश, चीन, लङ्का, मिस्र, फ़ारिस, अरब और बाबुल आदि देशों तथा अन्य कितने ही दूरवर्ती टापुओं में व्यापार आदि के लिए, समुद्र की राह, जहाजों पर बराबर जाते-आते थे। इससे स्पष्ट है कि वे लोग समुद्र-यात्रा करना बुरा या धर्मविहीन काम

न समझते थे और जहाज, बनाना तथा चलाना अच्छी तरह जानते थे। जिन लोगों की यह धारणा है कि प्राचीन-काल के भारतवासी कूपमण्डूकवत् अपने ही घर में घुसे रहते थे—द्वीप-द्वीपान्तरों को न जाते थे—उन्हें बौद्ध-ग्रन्थों से दिये गये प्रमाणों को कान खोल कर सुन लेना और अपने भ्रम तथा अज्ञान को दूर कर देना चाहिये।

[अगस्त १९२७

प्राचीन भारत में नाट्यशालायें

दक्षिणी भारतवर्ष में हजारों वर्ष तक हिन्दू-नरेशों का अखण्ड आधिपत्य रहा। वहाँ के निवासियों की मातृ-भाषायें अन्य प्रान्तों के निवासियों की भाषाओं से भिन्न थीं और अब भी हैं। तथापि हिन्दू-धर्म्म, हिन्दू-शास्त्र, हिन्दू-साहित्य और हिन्दू-सभ्यता ही का दौरदौरा वहाँ सदा ही रहा है। गङ्गा, चालुक्य, चोल, पाण्ड्य आदि वंशों के नरेशों ने सहस्रशः मन्दिर, मठ, धर्म्मशालायें, कूप, तड़ाग आदि बनवा डाले; ग्राम, भूमि आदि ब्राह्मणों को दे डाली; अन्नसत्रों की स्थापना कर दी; समय समय पर अन्न-धन आदि के दान से पण्डितों, विद्वानों, कलाकोविदों का दुःख-दारिद्र दूर किया। विजयनगर, माइसोर, तांजोर आदि के नराधिपों ने भी बहुत दान-पुण्य किया। प्राचीन प्रथा के अनुसार इन नर-नायकों ने अपने इन सुकृतों के सूचक अनन्त दान-पत्र आदि ताम्रपत्रों और शिलाओं पर उत्कीर्ण करा कर यथास्थान लगवा दिये अथवा जिनके पास रहने चाहिये उन्हें दे दिये। इन लेखों की संख्या सचमुच ही अनन्त अथवा असंख्य है। मुद्दतों से पुरा-

तत्त्व-विभाग इन्हें खोज खोज कर इनकी तालिका बना रहा है और कुछ को प्रकाशित भी कर रहा है; पर उनका अन्त नहीं मिलता। हर साल नये नये सैकड़ों ही प्राचीन लेख मिलते हैं। उनमें से कुछ की भाषा संस्कृत, कुछ की तामील, कुछ की तैलगू, कुछ की मलयाली है। कुछ अन्य भाषाओं में भी इस तरह के लेख मिलते हैं। दक्षिणी भारत के प्राचीन लेखों के सम्बन्ध में ३१ मार्च १९२५ तक की एक साल की जो रिपोर्ट अभी, कुछ समय पूर्व, निकली है उसमें ४२० शिला-लेखों और १९ ताम्रपत्रों का उल्लेख है। शिलालेखों में से एक लेख ऐसा है जिससे सूचित होता है कि प्राचीन भारत के कोई कोई नरेश गीत, वाद्य और नाट्य-कला के बड़े ही प्रेमी थे। चोल-वंश का अधीश राजेन्द्र चोल अथवा राजराजदेव (प्रथम) ऐसा ही था। यह राजा राजकेसरी वर्म्मन के भी नाम से प्रसिद्ध था। यह ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में विद्यमान था।

राजेन्द्र चोल (प्रथम) का एक शिलालेख मिला है। वह उसके राज्यारोहण के नवें वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था। उस दिन शुक्ल पक्ष की षष्ठी और दिन शनिवार था। हिसाब लगाने से उस दिन ९९४ ईसवी के आक्टोबर महीने की १३ तारीख थी। दक्षिण में एक जगह तिरुवाडु-

थीं। ये दासियाँ या नर्तकियाँ सैकड़ो की संख्या में मन्दिरस्थ देवताओं और उनके भक्तों को नाच-कूद कर रिझाया करती थीं। जिस राजराज चोल (प्रथम) का उल्लेख ऊपर हुआ है उसने तो दक्षिणी भारत के भिन्न भिन्न मन्दिरों से ४०० नर्तकियाँ लाकर उन्हें तांजोर में बसा दिया था। वहाँ वे उस नगर के देवस्थानों को दिन-रात गुलज़ार रखती थीं। इस बात का उल्लेख राजराज ने अपने एक शिलालेख में बड़े गर्व के साथ किया है। उसके पुत्र ने राजराजेश्वर नाटक खेलने के लिए विजयराजेन्द्र आचार्य्य को एक विशेष दान से सत्कृत किया था। तिरुविडाईमरुदूर नामक स्थान में महालिंगेश्वर नाम का एक मन्दिर है। वहाँ नाटक दिखाने के लिए एक नट को चोल-नरेश राजाधिराज (प्रथम) ने भी कुछ भूमि दान दी थी। चोल-नरेश कुलोत्तुङ्ग (तृतीय) ने एक नर्तकाचार्य्य को एक मन्दिर मे इसलिए रक्खा था कि वह मुँह से कुछ न कह कर केवल भावभङ्गी और नृत्य ही के द्वारा देवताओं और देवभक्तों तथा यात्रियों को अपना अभिनय दिखाया करे। ये बातें सुनी सुनाई नहीं; इन सबका उल्लेख शिलाओं पर उत्कीर्ण लेखों में पाया जाता है।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि किसी समय दक्षिणी भारत में नाट्यकला उन्नतावस्था में थी और जगह जगह नाट्यशालायें थीं। उनमें स्त्रियाँ और पुरुष

कम्बोडिया में प्राचीन हिन्दू-राज्य

प्राचीन काल में भारतवासी विदेशों ही को नहीं, द्वीपान्तरों तक को, जाते थे। यह बात अब काल्पनिक नहीं, ऐतिहासिक है। इस विषय की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके लेखक देशी पुरातत्त्वज्ञ भी हैं और विदेशी भी। इस विषय में लिखे गये और प्रकाशित हुए लेखों की तो संख्या ही नहीं निश्चित की जा सकती। उन्हें तो सङ्ख्यातीत समझना चाहिए। भारतवासियों के विदेश-गमन के विषय में आज तक जो कुछ खोज हुई है और जो कुछ लिखा गया है उससे सिद्ध है कि सन् ईसवी से कितने ही शतक पहले से भारतवासी दूर दूर देशों की यात्रा करने लगे थे। पश्चिम में वे मिश्र, रूम, यूनान, तुर्किस्तान तक जाते थे। पूर्व में चीन, जापान, स्याम, अनाम, कम्बोडिया ही तक नहीं, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली आदि द्वीपों तक भी उनका आवागमन था। उस समय समुद्र पार करना मना न था। उससे धर्म्म की हानि न होती थी और जाति-पाँति को धक्का न पहुँचता था। उस प्राचीन काल में भारतवासी आर्य अथवा हिन्दू व्यापार के लिए

भी विदेश-यात्रा करते थे, धर्म्म-प्रचार के लिए भी करते थे और दूर देशों में बस कर अन्य मार्ग से भी धन-सञ्चय करने के लिए करते थे।

स्याम के उत्तर, पूर्व और दक्षिण में एक बहुत विस्तृत देश है। उस पर फ्रांस की प्रभुता है। उसका संयुक्त नाम है इंडो-चायना। इस विस्तृत देश का उत्तरी भाग टानकिन, पश्चिमी अनाम और दक्षिणी कोचीन-चाइना अथवा कम्बोडिया कहाता है। इसी अनाम और कम्बोडिया में किसी समय हिन्दुओं का राज्य था। फ्रांस के कई पुरातत्त्वज्ञों और विद्वानों ने इन देशों या प्रान्तों का प्राचीन इतिहास लिखा है। उन्होंने अपने इन इतिहासों में पास-पड़ोस के द्वीपों तक की पुरानी बातों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने एक छोटा-सा लेख अँगरेज़ी भाषा की मासिक पुस्तक, "माडर्न रिव्यू" में, प्रकाशित कराया है। इसके सिवा विश्वभारती के अध्यापक बाबू फणीन्द्रनाथ वसु की एक पुस्तक अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसमें प्राचीन चम्पा-राज्य का वर्णन है। चम्पा से मतलब उस देश या प्रदेश से है जिसे आज-कल अनाम कहते हैं। प्राचीन-काल में भारतवासियों ने जाकर वहाँ अपने राज्य की स्थापना की थी। फ्रेंच-इतिहास-वेत्ताओं ने बहुत खोज के अनन्तर वहाँ की हिन्दू-सभ्यता और शासन के सम्बन्ध

में पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उन्हीं की खोज की प्रधान प्रधान बातों का समावेश वसु महाशय ने अपनी इस छोटीसी पुस्तक में किया है। इन समस्त पुस्तकों और लेखों में उल्लिखित बातों में से कुछ का सार नीचे दिया जाता है।

इंडो-चायना में १२० लाख अनामी, १५ लाख कम्बोडियन, १२ लाख लाउस, २ लाख चम और मलाया, १ हज़ार हिन्दू और ५० लाख असभ्य जङ्गली आदमी रहते हैं। अनामी, कम्बोडियन और लाउस नाम के अधिवासी बौद्ध हैं। जो एक हज़ार हिन्दू हैं वे सबके सब तामील हैं। चम और मलाया लोग प्रायः मुसलमान हैं। उनमें से कोई २५ हज़ार चम, जो अनाम के वासी हैं, बहुत प्राचीन ब्राह्मण-धर्म्म के अनुयायी हैं। वे सब शैव हैं और अपने को "चमजात" कहते हैं।

खोज से मालूम होता है कि कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भारतवासियों ने पहले-पहल स्याम के पूर्वी प्रदेशों और द्वीपों को जाना आरम्भ किया। बहुत करके ये लोग प्राचीन कलिङ्ग और तैलङ्ग देश के समुद्रतटवर्ती प्रान्तों से उस तरफ़ गये; क्योंकि वही प्रान्त वर्तमान अनाम और कम्बोडिया आदि प्रान्तों के निकट हैं। उस समय समुद्रमार्ग से वहाँ जाने में विशेष सुभीता रहा होगा। भारतवासियों का ख़याल था कि वर्तमान इन्डो-

चायना के दक्षिणी और पूर्वी भाग धन-धान्य से बहुत अधिक सम्पन्न हैं। इसी से उन भागों को वे लोग "सुवर्ण-भूमि" कहते थे। जानेवालों में से कुछ तो वनिज-व्यापार करनेवाले थे, कुछ सैनिक थे और कुछ ब्राह्मण थे। पहले तो ये लोग रुपया पैदा करने ही के लिए जाते रहे होंगे और धीरे धीरे उनमें से बहुत लोग वहीं बस गये होंगे। उनकी संख्या बढ़ने पर धर्म्म-प्रचार और पौरोहित्य कार्य्य करनेवाले भी पीछे से जाने लगे होंगे। इस तरह का आवागमन सैकड़ों वर्षों तक जारी रहने पर वहाँ गये हुए भारतवासियों के उपनिवेश, विशेष विशेष जगहों में, हो गये होंगे। उस समय उन देशों में रहनेवाले लोग सभ्य और शिक्षित न थे। उन पर भारतवासियों के आचार-व्यवहार और धर्म्म आदि का प्रभाव पड़े बिना न रहा होगा। बहुत सम्भव है, सौ दो सौ वर्ष साथ साथ रहने पर, उन्होंने वहाँ वालों को अपने धर्म्म का अनुयायी बना लिया हो, असभ्यों को सभ्यता प्रदान की हो और उनमें से बहुतों को अपना दास, सेवक या कर्म्मचारी भी बना लिया हो। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में पत्थरों पर खुदे हुए कई लेख इंडो-चायना में मिले हैं। वे सब विशुद्ध संस्कृत में हैं। इससे सूचित होता है कि उस समय वहाँ भारतवासियों का आधिपत्य दृढ़ता को पहुँच गया था। इससे यह भी

सूचित होता है कि उस समय के हज़ार पाँच सौ वर्ष पहले ही से भारतवासी वहाँ जाने लगे होंगे। बिना इतना काल व्यतीत हुए विदेशी भारतवासियों की स्थिति वहाँ बद्धमूल न हुई होगी। संस्कृत-भाषा का प्रचार और शिलालेखों पर ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अन्य देशवासी अल्पकालस्थायी यात्रियों के द्वारा सम्भव नहीं। अतएव सन् ईसवी के कम से कम सात आठ सौ वर्ष पहले ही से भारतवासी वहाँ बसने लगे होंगे।

बौद्ध-धर्म्म की उत्पत्ति सन् ईसवी के कोई तीन सौ वर्ष पहले हुई। अशोक के समय मे उसने बड़ी उन्नति की। भारत के अधिकांश भागों में उसकी तूती बोलने लगी। बौद्ध श्रमण विदेशों में भी जाकर अपने धर्म्म का प्रचार करने लगे। इसमें सन्देह नही कि वे लोग प्राचीन चम्पा (अनाम) और कम्बोडिया (काम्बोज) मे भी पहुँचे और वहाँ भी अपने धर्म्म का प्रचार किया। धीरे धीरे हिन्दू-धर्म्म के अनुयायियों के साथ ही साथ वहाँ बौद्ध-धर्म के अनुयायियो की भी संख्या बढ़ गई, और ये दोनों सम्प्रदाय वाले वहाँ पाये जाने लगे।

चम्पा और काम्बोज में जब से बौद्ध-धर्म्म पहुँचा, बराबर उन्नति करता गया। वह वर्द्धिष्णु धर्म्म था; भारतवासियों की तत्कालीन प्रकृति के वह अनुकूल था।

इसी से उसकी दैनंदिन वृद्धि होती गई। फल यह हुआ कि हिन्दू-धर्म्म के अनुयायियों की संख्या कम होती गई और बौद्ध-धर्म्म के अनुयायियों की बढ़ती गई। कम्बोडिया (काम्बोज) में जो शिलालेख मिले हैं उनसे सूचित होता है कि तेरहवीं सदी तक बौद्ध और हिन्दू दोनों ही वहाँ साथ ही साथ रहते थे। बौद्ध तो महायान-सम्प्रदाय के माननेवाले थे और हिन्दू प्रायः शैव थे। उस समय तक दोनों धर्म्मों के अनुयायी संस्कृत भाषा का आदर करते थे। उनके शिलालेखों में यह भाषा बहुत ही विशुद्ध रूप में पाई जाती है।

आर्यों ने अपने उपनिवेश चम्पा और काम्बोज ही में नहीं स्थापित किये। वे वहाँ से आगे बढ़ते हुए टापुओं तक में जा बसे। जावा में कुछ ऐसे शिलालेख मिले हैं जो ४०० ईसवी के अनुमान किये गये हैं। वे सभी संस्कृत में हैं। उनमें तारूमनगर के राजा पूर्णवर्म्मा का उल्लेख है। बोर्नियो नाम के टापू में भी संस्कृत-भाषा में खुदे हुए शिलालेख मिले हैं। उनमें भी जिन राजों के नाम आये हैं सभी के अन्त में "वर्म्मा" शब्द है। सुमात्रा टापू में तो अनेक शिलालेख पाये गये हैं। वे भी संस्कृत ही में हैं। उनमें भी वर्म्मान्त-नामधारी नरेशों के उल्लेख हैं। इन लेखों का प्रकाशन और सम्पादन फेरांड नाम के एक विद्वान् ने किया है। प्राचीन-काल में सुमात्रा-द्वीप

श्रीविजय नाम से ख्यात था ।

कंम्बोडिया अर्थात् प्राचीन काम्बोज का पहला वर्म्मा नामधारी राजा श्रुत-वर्म्मा था । उसने अपने राज्य की सीमा की विशेष वृद्धि की और उसे स्थायित्व प्रदान किया । वह कौण्डिन्य-गोत्र था । शिलालेखों में उसने अपने को सोमवंशी बताया है । उसने ४३५ से ४९५ ईसवी तक राज्य किया । ६८० ईसवी तक वहाँ वर्म्मा-नामधारी सात नरेशों ने राज्य किया । उसके बाद कोई सौ वर्ष तक वहाँ अराजकता सी रही । तदनन्तर १८ नरेश वहाँ और हुए । उनके नामों के अन्त में भी "वर्म्मा" शब्द था । इस तरह काम्बोज में २५ राजे ऐसे हुए जिनके उल्लेख शिलालेखों मे पाये जाते हैं । प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए शिलालेख ही सबसे अधिक विश्वसनीय साधन हैं । और, चूँकि इन सब राजो के नाम, धाम और काम आदि का वर्णन इन्हीं से मालूम हुआ है. अतएव इन बातों के सच होने में ज़रा भी सन्देह नहीं ।

ईसा के छठे शतक में काम्बोज में भव-वर्म्मा नाम का एक राजा था । वह शैव था । देवी-देवताओं के विषय में उसकी बड़ी पूज्य बुद्धि थी । उसने कितने ही मन्दिर बनवाये और उनमें देव-विग्रहों की स्थापना की । एक मन्दिर में उसने रामायण, महाभारत और अष्टादश पुराणों

की पुस्तकें रखवा दीं और उनके यथानियम पारायण का प्रबन्ध कर दिया। सातवें शतक में ईशान-वर्म्मा नाम का एक राजा इतना शिवोपासक हुआ कि उसने अपनी राजधानी का नाम बदल कर ईशानपुर कर दिया।

काम्बोज में जितने प्राचीन शिलालेख मिले हैं सब संस्कृत में हैं। उनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से बहुत ही शुद्ध है। उसमें लालित्य और रसालत्व भी है। इन लेखों की प्रणाली बिलकुल वैसी ही है जैसी कि भारत में प्राप्त हुए उस समय के शिलालेखों की है। इनमें सर्वत्र शक-संवत् का प्रयोग है और वह भी उसी ढँग से किया गया है जिस ढँग से कि भारतीय शिलालेखों में पाया जाता है। जो चीज़ जिसे दी गई उसे छीननेवालों को महारौरव नरक में ढकेले जाने की बिभीषिका दिखाई गई है। यह बिभीषिका भी भारतीय शिलालेखों ही की नक़ल है।

प्राचीन काम्बोज के प्रान्तों और नगरों के नाम भी वैसे ही थे जैसे कि इस देश के हैं। यथा—पाण्डुरङ्ग, विजय, अमरावती आदि।

काम्बोज में प्राप्त शिलालेखों से विदित होता है कि वहाँ किसी समय क्षत्रिय-नरेशों की राजकुमारियाँ ब्राह्मणों को भी ब्याही जाती थीं। वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत अगस्त्य नाम का एक ब्राह्मण ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में

"आर्य्यदेश" से काम्बोज को गया था। वहाँ उसने राजकुमारी यशोमती का पाणिग्रहण किया था। उसी का पुत्र नरेन्द्रवर्म्मा वहाँ के राजसिंहासन का अधिकारी हुआ और राज्य-सञ्चालन भी उसने किया। दसवीं शताब्दी में राजा राजेन्द्रवर्म्मा की कुमारी इन्द्रलक्ष्मी का विवाह यमुना-तट के निवासी दिवाकर नाम के विद्वान् ब्राह्मण से हुआ था। वासुदेव ब्राह्मण और जयेन्द्र-पण्डित के साथ भी काम्बोज की राजकुमारियों का विवाह हुआ था।

काम्बोज में जन्म-मृत्यु आदि से सम्बन्ध रखनेवाले संस्कार हिन्दू-धर्म्मशास्त्रों के अनुसार होते थे। मृतप्राणी "शिवलोक" को प्राप्त होते थे। नये नरेशों के सिंहासनासीन होने पर अभिषेक का काम दिवाकर, योगीश्वर और वामशिव आदि नामधारी पण्डित कराते थे। राजगुरुओं का बड़ा मान था। वे अपने शिष्य राजों को धर्म्मशास्त्र, नीति और व्याकरण आदि पढाते थे। काम्बोज-नरेश महाहोम, लक्षहोम, कोटिहोम, भुवनार्थ और शारदोत्सव आदि धार्म्मिक कृत्य करते थे।

ईसा के सातवें शतक तक बौद्धधर्म्म का प्रचार काम्बोज में था। हाँ, वह अपने शुद्ध रूप में न रह गया था। उसके अनुयायियों के आचार और धार्मिक व्यवहार हिन्दुओं के आचार-व्यवहार से कुछ कुछ मिल गये थे। दोनों का सम्मिश्रण सा हो गया था। शिव और विष्णु के मन्दिरों

को जैसे धन, भूमि, दास-दासियाँ और नर्तकियाँ दान के तौर पर दी जाती थीं वैसे ही बौद्ध-विहारों को भी दी जाती थीं।

बौद्ध-धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाली और जातकों में वर्णन की गई कथाओं की दर्शक मूर्तियाँ भी काम्बोज में पाई गई हैं। पर उनकी संख्या कम है। हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का ही आधिक्य है। सबसे अधिक मूर्तियाँ शिव, उमा और शक्ति की पाई गई हैं। उसके बाद विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, गणेश, स्कन्द और नन्दी आदि की।

[सितंबर १९२६

महात्मा अगस्त्य की महत्ता

कूपमण्डूकता बड़ी ही अनिष्टकारिणी क्या एक प्रकार से विनाशकारिणी होती है। मनुष्य यदि अपने ही घर, ग्राम या नगर में आमरण पड़ा रहे तो उसकी बुद्धि का विकास नहीं होता, उसके ज्ञान की वृद्धि नहीं होती, उसकी दृष्टि को दूरगामिनी गति नहीं प्राप्त होती। देश-विदेश जाने, भिन्न भिन्न जातियों और धर्म्मों के अनुयायियों से सम्पर्क रखने, दूर देशों में व्यापार करने आदि से विद्या, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है; मनुष्य में उदारता आ जाती है; जो आचार-विचार और रीति-रस्म अपने समुदाय में हानिकारक होते हैं उन्हें छोड़ देने की प्रवृत्ति हृदय में जागृत हो उठती है। जो बात एक, दो या दस, बीस मनुष्यों के लिए हितावह होती है वही एक देश के लिए भी हितावह होती है। इंगलैंड एक छोटा-सा टापू है। उसका विस्तार या रक़बा हमारे देश के सूबे अवध से भी शायद कम ही होगा। पर उस छोटे से टापू के प्रगतिशील निवासियों ने हज़ारों कोस दूर आस्ट्रेलिया और कनाडा तक में अपना प्रभुत्व जमा लिया है। दूर की बात जाने दीजिए, अपने देश

भारत को भी पादानत करके वे आज डेढ़ सौ वर्ष से यहाँ राज्य कर रहे हैं। यदि वे कूपमण्डूकता के क़ायल होते तो न उनके प्रभुत्व और ऐश्वर्य्य की इतनी वृद्धि होती और न उनके राज्य की सीमा ही का विस्तार इतना बढ़ता। उनकी वर्तमान उन्नति और ऊर्जितावस्था का प्रधान कारण उनकी प्रगतिशीलता और अध्यवसाय ही है। जिस मनुष्य या जिस देश में महत्वाकाङ्क्षा नहीं वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। इसे अबाध सत्य समझिए।

यद्यपि कुछ समय से इक्के दुक्के भारतवासी विद्योपार्जन और व्यापार के लिए इस देश के प्राय: प्रत्येक प्रान्त से अब विदेशों को जाने लगे हैं तथापि अधिकांश में समुद्र-पार करना यहाँवाले बहुत बड़ा पाप और धर्म-च्युति का कारण समझते हैं। जो राजपूत, किसी समय, ज़रूरत पड़ने पर, घोड़े की पीठ से भाले की नोंक से छेद कर नीचे आग में रोटियाँ पकाते और खाते थे वे तक इस समय योरप और अमेरिका आदि की यात्रा करने में धर्म्महानि समझते हैं। फ़ौज में भरती होकर अरब, मिस्र, फारिस, फ्रांस, इँगलैंड और हाँगकाँग जाने में हम लोगों की जाति और धर्म्म की हानि नहीं होती, पर अन्य उद्देश से जाने से हम डरते हैं। यह प्रवृत्ति धीरे धीरे कम हो रही है, पर उसके समूल जाते रहने में अभी बहुत समय दरकार है।

हमारी इस कूपमण्डूकता ने हमारी जो हानि की है उसकी इयत्ता नहीं। उसके कुफल हम पद पद पर भोग रहे हैं। उसने हमें किसी काम का नहीं रक्खा। परन्तु दुर्दैव हमें फिर भी सचेत नहीं होने देता। उसने हमें यहाँ तक अन्धा बना दिया है कि हम अपने पूर्व पुरुषों के चरित और उनके दृष्टान्त भी भूल गये हैं। हमारे जिन धर्म्मधुरीण प्राचीन ऋषियों और मुनियों ने द्वीपान्तरों तक में जाकर आर्य्यों के धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य्य की पताका फहराई और बड़े बड़े उपनिवेशों तक की स्थापना कर दी उनकी चरितावली आज भी हमें अपनी पुरानी पोथियों में लिखी मिलती है। परन्तु उनकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, उनके कार्य्यों का अनुसरण करना तो दूर की बात है।

"रूपम" नाम का एक सामयिक पत्र अंगरेज़ी में निकलता है। उसमें बड़े ही महत्त्व के लेख और चित्र प्रकाशित होते हैं। उसमें ओ० सी० गांगूली नाम के एक महाशय ने एक लेख अगस्त्य-ऋषि के सम्बन्ध में प्रकाशित कराया है। यही लेख कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती नामक पत्रिका के गत जुलाई महीने के अंक में उद्धृत हुआ है। उस लेख में यह लिखा गया है कि हमारे प्रसिद्ध और प्राचीन अगस्त्य-मुनि ने कम्बोडिया ही में नहीं, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो

तक में जाकर वहाँ पर भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था। यह वही अगस्त्य-ऋषि जान पड़ते हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने समुद्र को अपने चुल्लू में भर कर पी लिया था। इस अतिशयोक्ति या रूपक का मतलब शायद इतना ही है कि जिस समुद्र के पार जाना लोग पाप समझते या जिसके सन्तरण से लोग भयभीत होते थे उसी के वे इस तरह पार चले गये जिस तरह लोग चुल्लू भर पानी का पार कर जाते हैं। अगस्त्य को आप कल्पनाप्रसूत पुरुष न समझ लीजिएगा। उनका उल्लेख आश्वलायन-गृह्यसूत्रों तक में है; पुराणों में तो उनकी न मालूम कितनी कथायें पाई जाती हैं। उनके चलाये हुए अगस्त्य-गोत्र में इस समय भी सहस्रशः मनुष्य विद्यमान हैं। पूर्वीय द्वीपों में पाये गये एक शिलालेख तक में इस बात का निर्देश है।

अगस्त्य-ऋषि का निवासस्थान काशी था। वे महा-शैव थे और काशी के एक शिव-मन्दिर, बहुत करके विश्वनाथ के मन्दिर, से सम्बन्ध रखते थे। वे बड़े विद्वान् और बड़े तपस्वी थे। उनमें धर्म्म-प्रचार-विषयक उत्साह अखण्ड था। शैव-मत की अभिवृद्धि के लिए उन्होंने दक्षिणा-पथ के प्रान्तों में जाने का निश्चय किया। उस समय विन्ध्य-पर्वत के पार दक्षिणी प्रान्तों में जाना दुष्कर कार्य था। क्योंकि घोर अरण्यों को पार करके

जाना पड़ता था। परन्तु सारी कठिनाइयों को हल करके महामुनि अगस्त्य विन्ध्याचल के उस पार पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने दूर दूर तक के जंगल कटवाकर वह प्रान्त मनुष्यों के बसने और आवागमन करने योग्य बना दिया। वाल्मीकि-रामायण के अरण्यकाण्ड में लिखा है कि उस प्रान्त को मनुष्यों के बसने योग्य बनाने में दण्डकारण्य के असभ्य जंगली लोगों (राक्षसों) ने अगस्त्य के काम में बड़ी बड़ी बाधायें डालीं। परन्तु अगस्त्य ने उन सबका पराभव करके कितने ही आश्रमों और नगरों की स्थापना कर दी। इल्वल और वातापी नाम के दो राक्षस (शायद असभ्य जंगली लोगों के सरदार) उस समय वहाँ बड़े ही प्रबल थे। उनके उत्पात सदा ही जारी रहते थे। उन्हे भी अगस्त्य से हार खानी पड़ी। इस बात का भी उल्लेख पूर्वोक्त रामायण के लङ्का-काण्ड में है। वर्तमान ऐपोल और बादामी नगर उन दोनो राक्षसों की याद अब तक दिला रहे है।

अगस्त्य-ऋषि ने दक्षिण में अपने मत ही का प्रचार नही किया। उन्होंने वहाँ वालों को कला-कौशल भी सिखाया। कितने ही नरेशों तक को उन्होंने अपने धर्म्म में दीक्षित किया। पाड्य-देश के अधीश्वरों के यहाँ तो उनका सबसे अधिक सम्मान हुआ। उनको वे लोग

देवता के सदृश पूजने लगे। अगस्त्य ही ने वहाँ पहले पहल आयुर्वेद का प्रचार करके रोग-निवारण की विद्या लोगों को सिखाई। कहते हैं कि उन्होंने तामील-भाषा का प्रचार या सुधार किया। द्रविडदेशीय वर्णमाला का संशोधन भी उन्हीं के द्वारा हुआ माना जाता है। उसके व्याकरण का निर्माण भी उन्हीं ने किया। उन्हीं के नामानुसार वह अगोथियम आख्या से अभिहित है। मूर्ति-निर्म्माण-विद्या पर भी अगस्त्य-ऋषि के द्वारा निर्म्मित एक संहिता सुनी जाती है। मतलब यह कि इस महर्षि ने दक्षिणापथ को मनुष्यों के निवासयोग्य ही नहीं बना दिया, किन्तु उन्होंने वहाँ के निवासियों को धर्म्म, विद्या और कलाओं आदि का भी दान देकर उन्हें सभ्य और शिक्षित भी कर दिया।

परन्तु अगस्त्य को इतने ही से सन्तोष न हुआ। उपनिवेश-संस्थापन और सभ्यता-प्रचार की पिपासा उनके हृदय से फिर भी दूर न हुई। इस कारण उन्होंने समुद्र-बन्धन को तोड़कर द्वीपान्तरों को जाने की ठानी। उन्होंने समुद्र को पी डाला। अथवा आज-कल की भाषा में कहना चाहिए कि तरण-योग्य यान या जहाज़ बनवा कर उनकी सहायता से वे उसे पार करके उसके पूर्व तटवर्त्ती द्वीपों या देशों में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने हिन्दू या आर्य्यधर्म्म का प्रचार आरम्भ कर दिया।

शिलालेखों से ज्ञात होता है कि धीरे धीरे वे दूरवर्ती कम्बोडिया तक में पहुँच गये। उस देश में एक जगह अङ्कोर-वट नामक है। वहाँ एक टूटा-फूटा शिलालेख मिला है। उसमें लिखा है—

"ब्राह्मण अगस्त्य आर्य्यदेश के निवासी थे। वे शैवमत के अनुयायी थे। उनमें अलौकिक शक्ति थी। उसी के प्रभाव से वे इस देश तक पहुँच सके थे। यहाँ आकर उन्होंने भद्रेश्वर नामक शिवलिंग की पूजा-अर्चा बहुत काल तक की। यहीं वे परमधाम को पधारे।"

कम्बोडिया में अगस्त्य ऋषि ने अनेक बड़े बड़े शिव-मन्दिरों का निर्म्माण करा कर उनमें लिङ्ग-स्थापना की। वहाँ उन्होंने एक राजवंश की भी नींव डाली। इस प्रकार उन्होंने कम्बोडिया के तत्कालीन निवासियों को अपने धर्म्म में दीक्षित करके उन्हें सभ्य और सुशिक्षित बना दिया।

यह सब करके भी अगस्त्यजी को शान्ति न मिली। वायु-पुराण में लिखा है कि वे बर्हिद्वीप (बोर्नियो), कुशद्वीप, वराहद्वीप और शांख्यद्वीप तक में गये और वहाँ अपने धर्म्म का प्रचार किया। ये पिछले तीनों द्वीप कौन से हैं, यह नहीं बताया जा सकता। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ये बोर्नियो के आसपास वाले द्वीपों ही में से कोई होंगे।

अगस्त्य के विषय में जो बातें ज्ञात हुई हैं वे यद्यपि कहानियाँ सी जान पड़ती हैं, तथापि शिलालेखों, मन्दिरों, मूर्तियों और परम्परा से सुनी गई कथाओं के आधार पर मालूम यही होता है कि इनमें तथ्य का कुछ न कुछ अंश ज़रूर है। जावा, कम्बोडिया और भारत के प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों में जिस अगस्त्य का उल्लेख है, सम्भव है, वह एक ही व्यक्ति न हो—जुदे जुदे कई व्यक्ति एक ही नाम के हों; क्योंकि अगस्त्य-ऋषि का गोत्र भी तो प्रचलित है। हो सकता है कि उस गोत्र के अन्य लोग भी अगस्त्य ही के नाम से प्रसिद्ध हुए हों। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि अगस्त्य नामधारी भारतवासियों ने अपने देश के दक्षिणी भागों तथा कम्बोडिया और जावा आदि दूर देशो में भारतीय-धर्म का प्रचार करके वहाँ के निवासियों को भारतीय सभ्यता प्रदान की।

कितने परिताप की बात है कि उन्हीं अगस्त्य के देशवासी हम लोग अब कूपमण्डूक बनकर दुर्गति के गर्त में पड़े हुए सड़ रहे हैं। (प्रबुद्ध भारत से)

[दिसम्बर १९२६

सुमात्रा और जावा आदि द्वीपों में प्राचीन हिन्दू-सभ्यता

उस दिन अखबारों में पढ़ा कि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्याम, अनाम, कम्बोडिया और मलय-द्वीप-समूह की यात्रा के निमित्त कलकत्ते से प्रस्थान कर दिया। आप इन देशों और द्वीपों के निवासियों पर वेदो और उपनिषदों की अमृत-रस से सिञ्चित वाणी की वर्षा करेंगे और हिन्दुओ तथा बौद्धो की प्राचीन सभ्यता के तत्रस्थ चिह्नों के दर्शनो से कृतार्थ होंगे।

सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, कम्बोडिया (काम्बोज) और बाली आदि में किसी समय हिन्दुओ ही का राज्य था। उन्ही ने वहाँ उपनिवेशों की स्थापना की थी। उन्हीं ने वहाँ वैदिक सभ्यता फैलाई थी। इन देशो तथा द्वीपों में भारत की प्राचीन सभ्यता की धुँधली झलक अब भी देखने को मिल सकती है। कौन ऐसा सभ्यताभिमानी भारतवासी होगा जो अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की उस झलक के दर्शन करने की इच्छा न करे।

अध्यापक विज्ञानराज चैटर्जी (Bijanraj Chatterji) अथवा परम पवित्र और परमपूर्ण अँगरेज़ी भाषा की

कृपा से विजनराज या विजानराज चैटर्जी ने तिब्बत, इंडो-चायना और जावा आदि को ख़ूब सैर की है और वहाँ के प्राचीन इतिहास से विशेष अभिज्ञता भी प्राप्त की है। उन्होंने पुरातन काम्बोज अर्थात् अर्वाचीन कम्बोडिया पर एक पुस्तक भी लिखी है। उनके लेख से मालूम होता है कि छोटे से बाली नामक टापू में अब तक प्राचीन हिन्दुओं के वंशज वर्तमान हैं। उनमें हिन्दुओं के अनेक रीति-रवाज अब तक वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि किसी समय हमारे पूर्वज भारत-वासियों के थे। उनके धर्म्म में यद्यपि बौद्ध-धर्म्म का मिश्रण हो गया है तथापि अनेक विषयों में वे अब भी हिन्दुओं ही के धर्म्म-विश्वास के पक्षपाती हैं। उनकी उपासना-पद्धति, उनके खानपान और उनके मन्दिर आदि देख कर यह निश्चय करने में देर नहीं लगती कि वे लोग प्राचीन हिन्दुओं ही की सन्तति हैं।

जिन अध्यापक विज्ञान (विजान या विजन) राज चैटर्जी का उल्लेख ऊपर किया गया उनका लिखा हुआ एक लेख गत जून के "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित हुआ है। वह अँगरेज़ी भाषा में है। उसमें जावा आदि टापुओं के प्राचीन इतिहास का महत्त्वपूर्ण दिग्दर्शन है। उसमें निर्दिष्ट अनेक बातें भारतवासियों के लिए नई, अतएव जानने योग्य हैं। इसी से हम उनके कुछ अंशों

का अवतरण नीचे देते है।

गत ३० वर्षों मे हालैंड के पुरातत्त्वज्ञों ने प्राचीन पुस्तकों, लेखो और परम्परा से सुनी गई गाथाओं की सहायता से जावा आदि टापुओं के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है।

रामायण कम से कम ईसा के पहले शतक की पुस्तक है। उसमें जावा अर्थात् यवद्वीप का नाम आया है। मिस्त्र देश के प्राचीन इतिहासवेत्ता टालमी ने, दूसरे शतक में, उसका उल्लेख किया है। बोर्नियो नाम के टापू में एक बहुत पुराना शिलालेख मिला है। वह संस्कृत-भाषा में है और ईसा के चौथे शतक का मालूम होता है। वह जिस लिपि मे है उसी लिपि के लेख चम्पा और काम्बोज में भी मिले है। उनकी लिपि और भाषा दक्षिणी भारत के पल्लव-नरेशों के शिलालेखों से मिलती-जुलती है। बोर्नियो के शिलालेख में अश्ववर्म्मा नामक राजा का उल्लेख है। यह राजा अपने वंश का आदि पुरुष था। इसके पुत्र मूलवर्म्मा ने बहुसुवर्णक नाम का यज्ञ किया था। इसके बाद पॉचवें शतक के शिलालेख मिले हैं; वे पश्चिमी जावा के राजा पूर्णवर्म्मा के है। इनकी भी लिपि पल्लववंशी नरेशों की ग्रन्थ-नामक लिपि के सदृश है। वर्तमान बटेविया नगर के पास किसी समय तरुण-नगर नाम की एक बस्ती थी। पूर्णवर्म्मा वहीं

का राजा था। उसने दो नहर खुदाये थे। एक का नाम था चन्द्रभागा और दूसरे का गोमती। ये दोनो ही नाम उत्तरी भारत की नदियों के नाम की नकल हैं। बहुत सम्भव है कि इसी पूर्णवर्म्मा या इसके परवर्ती राजा के राजत्व-काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-हीन सिंहलद्वीप से पश्चिमी जावा में पहुँचा हो। इस यात्री ने लिखा है कि उस समय वहां अनेक ब्राह्मण थे। बौद्ध-धर्म्म का प्रचार शुरू हो गया था, परन्तु तब तक उसके अनुयायी बहुत कम थे। इस यात्री ने, ४१३ ईसवी में, जावा से कैण्टन नामक नगर के लिए जिस जहाज़ पर प्रस्थान किया था उस पर २०० हिन्दू-व्यापारी थे। यह बात उसने स्वयं ही अपने यात्रा-वर्णन में लिखी है।

पुराने अवतरणों और उल्लेखों से मालूम होता है कि जावा में पहले-पहल काश्मीर के राजा या राजकुमार गुणवर्म्मा ने, ४२३ ईसवी में बौद्ध-धर्म्म का प्रचार किया। यह राजकुमार जावा से चीन को एक ऐसे जहाज़ पर गया था जिसका मालिक नन्दी नाम का एक हिन्दू था। इससे सिद्ध है कि उस समय इन टापुओं के हिन्दू जहाज़ बनाने, जहाज़ चलाने और जहाज़ों के द्वारा वाणिज्य करने में निपुण थे।

चीन की प्राचीन पुस्तकों से भी जावा के अस्तित्व और वहाँ हिन्दुओं का राज्य होने के प्रमाण मिलते हैं।

चीन के पहले सुङ्गवंश के इतिहास में लिखा है कि ४३५ ईसवी में जावा-नरेश श्रीपाद-धारावर्म्मा ने अपने दूत के द्वारा चीन के राजाधिराज के पास एक पत्र भेजा था। छठे शतक के एक अन्य चीनी इतिहास में लिखा है कि जावा के निवासी कहते है कि इनके राज्य की स्थापना हुए ४०० वर्ष व्यतीत हुए।

मालूम होता है कि छठे शतक के अन्त में पश्चिमी जावा के राज्य का पतन होगया और मध्य-जावा मे एक नये ही राज्य की स्थापना हुई। चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थों में लिखा है कि मध्य-जावा में कलिङ्ग-नामक राज्य का उदय हुआ। उनमें यह भी लिखा है कि उस राज्य से तथा बाली से भी, ६३७ और ६४९ ईस्वी के बीच कई राजदूत चीन को गये और वहाँ के राजेश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने अपने अपने देश के स्वामियों के पत्र उसे दिये। ६७४ ईसवी में कलिङ्ग के राजासन पर सीमा नाम की एक रानी आसीन हुई। उसका राज्य राम-राज्य के सदृश था। प्रजा का पालन उसने पुत्रवत् किया—"चोरी" का शब्द केवल कोश मे रह गया—

वातोऽपि नाश्रंसयदंशुकानि
कोलम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

उस समय सुमात्रा के पश्चिमी-समुद्र-तटवर्ती प्रान्त में

कुछ अरब बस गये थे। उनके सरदार ने अशर्फियों से भरी हुई एक थैली कलिङ्ग-राज्य की सीमा के भीतर, एक सड़क पर, रखवा दी कि देखें उसे कोई उठा ले जाता है या नहीं। तीन वर्ष तक वह वहीं पड़ी रही; किसी ने उसे छुवा तक नहीं। इसके बाद एक दिन कलिङ्ग के युवराज के पैर से वह थैली टकरा गई। इस पर रानी सिमा सख्त नाराज़ हुई। पहले तो उसने युवराज को वध-दण्ड दिये जाने की आज्ञा दे दी; पर लोगों के बहुत कुछ समझाने पर उसने युवराज के उस पैर का केवल अँगूठा कटवा कर उसे छोड़ दिया। इस घटना का भी उल्लेख चीनियों के इतिहास में है।

मध्य-जावा में एक जगह जगाल है। वहाँ एक शिला-लेख, शक ६५४ (७३२ ईसवी) का, मिला है। यह पहला ही शिलालेख है, जिसमें सन्-संवत् दिया हुआ है। इसकी भी भाषा संस्कृत और लिपि वही पल्लव-ग्रन्थ है। इसमें एक शिवालय के पुनर्निर्माण का उल्लेख है। दक्षिणी भारत में अगस्त्य-मुनि के एक आश्रम का नाम कुञ्जर-कुञ्ज था। जावा का वह शिवालय इसी कुञ्जर-कुञ्ज के शिवालय के ढँग का बनाया गया था। इसमें मध्य-जावा के दो नरेशों—सन्नाह और सञ्जय—का ज़िक्र है और लिखा है कि उन्होंने इस भू-मण्डल पर, चिरकाल तक, मनु के सदृश न्यायपूर्वक राज्य किया।

सञ्जय बड़ा ही बलशाली राजा हुआ। उसने सुमात्रा, बाली और मलयप्रायद्वीप के समस्त नरेशों का पराजय करके उन्हें अपने अधीन कर लिया था।

शक ६८२ (सन् ७६० ईसवी) में उत्कीर्ण एक और शिलालेख, पूर्वी जावा में, प्राप्त हुआ है। उसमें अगस्त्य ऋषि की एक प्रस्तर-मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। उसकी स्थापना गजयान नामक राजा ने की थी। यह राजा ब्राह्मणों का पुरस्कर्त्ता और कुम्भयोनि अगस्त्य का उपासक था।

यवद्वीप के निवासी अगस्त्य के परम उपासक थे। ८६३ ईसवी के एक और शिलालेख में भी अगस्त्य का नाम आया है। इस लेख की भाषा "कवी" है। संस्कृत और जावा की तत्कालीन प्रान्तिक भाषा के मिश्रण से बनी हुई भाषा का नाम "कवी" है। इस शिलालेख में भद्रलोक नाम के एक मन्दिर का उल्लेख है। उसे स्वयं अगस्त्य ने बनवाया था। उसमें अगस्त्य की सन्तति के विषय मे आशीर्वाद है। इससे सूचित होता है कि अगस्त्य-मुनि दक्षिणी भारत से जावा में जा बसे थे।

इस बीच में राजनैतिक उलट-फेर बहुत कुछ हो जाने के कारण मध्य-जावा, शैव-सम्प्रदाय के नरेशों के हाथ से निकल कर, सुमात्रा के महायान-सम्प्रदाय वाले बौद्धों के अधिकार में चला गया। यह घटना ईसा के

आठवें शतक के मध्य में हुई जान पड़ती है। चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थों में लिखा है कि सुमात्रा में, ईसा के पाँचवें शतक में, हिन्दुओं का राज्य था। वहाँ के शैलेन्द्रवंशी नरेशों ने अपने राज्य का विस्तार, धीरे धीरे, बहुत दूर तक बढ़ा लिया था। बौद्ध हो जाने पर उन्होंने मध्य-जावा के शैवों से उनका राज्य छीन कर वहाँ भी अपना प्रभुत्व जमाया। दसवें शतक में इसी वंश के एक राजा ने मदरास के पास नेगापट्टन में एक मन्दिर बनवाया। इस काम में जो कुछ ख़र्च पड़ा वह उसी राजा ने दिया; मन्दिर बनवाने की आज्ञा-मात्र दक्षिण के तत्कालीन चोल-नरेश ने दी। सुमात्रा के इन नरेशों ने भारत में और भी कई मठ तथा मन्दिर आदि बनवाये। नालन्द में एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें लिखा है कि सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के शैलेन्द्र-वंशी राजा बालपुत्रदेव ने वहाँ पर एक मठ या विहार बनवाया। उसके ख़र्च के लिए बङ्गाल के पाल-नरेश ने कुछ गाँव अलग कर दिये, क्योंकि उसका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर था।

सुमात्रा के नरेशों की राजधानी श्रीविजय नामक नगर था और वहाँ के पराक्रमी अधिपति महायान-सम्प्रदाय के बौद्ध थे। ये लोग पहले हीनयान-सम्प्रदाय के थे; क्योंकि सातवें शतक में जब चीनी परिव्राजक इत्सिंग सुमात्रा में था तब उसने वहाँ हीनयान-सम्प्रदाय

ही का आधिक्य पाया था ।

सुमात्रा और जावा में उपनिवेश स्थापित करके वहीं बस जानेवाले हिन्दुओं का अधिक सम्पर्क, पहले पहल, दक्षिणी भारत से था। वे लोग दक्षिण ही से, जाकर वहाँ बस गये थे। पर निकट होने के कारण, कालान्तर में, उनका आवागमन बङ्गाल और मगध से अधिक होने लगा। फल यह हुआ कि शिलालेखों और ताम्रपत्रों में दक्षिण की पल्लव ग्रन्थ-लिपि के बदले उत्तरी-भारत की लिपि स्थान पाने लगी। शैलेन्द्रवंशी एक राजा ने ७०० शक (७७८ ईसवी) मे तारा का एक मन्दिर, जावा में, बनवाया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले लेख में उत्तरी-भारत की लिपि का प्रयोग हुआ है। यह लिपि देवनागरी से कम, बंगला से अधिक, मिलती-जुलती है।

श्रीविजय के नरेशों के शासन-काल में जावा अर्थात् यवद्वीप की बड़ी उन्नति हुई। कला-कौशल और मन्दिर-निर्म्माण आदि के कुछ ऐसे काम उस समय हुए जिन्हें देखकर बड़े बड़े यंजिनियर और कला-कोविद शतमुख से उनकी प्रशंसा करते है। बोरोबोदूर के विश्वविश्रुत मन्दिर-समूह उसी समय बने। चण्डी-मेन्दूत की अवलोकितेश्वर की प्रसिद्ध मूर्ति का निर्म्माण भी तभी हुआ। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्ति-निर्म्माण-प्रणाली से टक्कर

खाती है और बहुत ही अच्छी है। श्रीविजय के शैलेन्द्र-नरेश संस्कृत भाषा के साहित्य के भी उन्नायक थे। उनमें से एक राजा ने अपने यहाँ की "कवी" भाषा में संस्कृत के एक शब्दकोश की रचना भी की। जावा में सुमात्रा के श्रीविजय-नरेशों का राज्य ईसा के दसवें शतक तक रहा।

दसवें शतक में मध्य-जावा के शैव नरेश, जो अपने देश से निकाले जाने पर पूर्वी जावा में जा बसे थे, फिर प्रबल हुए। उस समय श्रीविजय के सूबेदार या गवर्नर मध्य-जावा में शासन करते थे। उन्होंने उन सूबेदारों को निकाल बाहर किया और अपना राज्य उनसे छीन लिया। तब शैवों का प्रभुत्व वहाँ फिर बढ़ा और अनेक विशालकाय शिवालयों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। उनमें से एक मन्दिर में रामायण से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी ही सुन्दर चित्रावलियाँ और मूर्तियाँ बनाई गईं। इसके बाद किसी दुर्घटना—बहुत करके किसी ज्वालामुखी पर्वत के स्फोट—के कारण मध्य-जावा उजड़ गया।

तदनन्तर पूर्वी जावा की बारी आई। पू-सिन्दोक नामक नरेश के प्रताप से उसकी उन्नति हुई। उसने वहाँ एक बलवान राज्य की नींव डाली। उसकी पौत्री महेन्द्रदत्ता का विवाह बाली के गवर्नर उदयन के साथ

हुआ। उदयन का पुत्र एरलिङ्ग बड़ा प्रतापी हुआ। पन्द्रह ही वर्ष की उम्र में उसे, अपने शत्रुओं के भय से, वाणगिरि नामक जङ्गल को भाग जाना पड़ा। वहाँ उसने बहुत समय बड़े कष्ट से काटा। उसने वहाँ प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे मेरा पैत्रिक राज्य फिर प्राप्त हुआ तो मैं इस अरण्य में एक आश्रम बनवाऊँगा। उसकी इच्छा, कालान्तर में, पूर्ण हुई। तब उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस अरण्य में एक भव्य आश्रम का निर्म्माण कराया। वहीं पर प्राप्त हुए सन् १०३५ ईसवी के एक शिलालेख से ये सब बातें मालूम हुई हैं। यह राजा बड़ा प्रतापी था। अपने सभी शत्रुओं पर इसने विजय-प्राप्ति की। इसके राज्यकाल में साहित्य की बहुत उन्नति हुई। अर्जुन-विवाह और विराटपर्व काव्य तथा रामायण और महाभारत के अनुवाद आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ, इसी के समय में, जावा की पुरानी ("कवी") भाषा में निर्म्मित हुए। वृद्ध होने पर एरलिङ्ग वानप्रस्थ हो गया। उसने अपना राज्य अपने दोनों बेटों को बराबर बराबर बाँट दिया। यह हिस्सा-बाँट भरत नाम के एक "सिद्ध" मुनि ने किया। एक को केदरी का और दूसरे को जाङ्गल का राज्य मिला। यह घटना १०४२ ईसवी में हुई।

जाङ्गल-राज्य के विषय में तो विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं; परन्तु केदिरी-राज्य ने बड़ी ख्याति पाई। उस राज्य

के कवियों ने "कवी" भाषा के साहित्य की बहुत उन्नति की। वर्पजय नामक राजा के आश्रित कवि त्रिगुण ने, ११०४ ईसवी में, सुमनसान्तक और कृष्णजन नामक प्रसिद्ध काव्यों की रचना की। ११२० ईसवी के आस-पास, कामेश्वर नामक राजा के समय में, पू-धर्म्मज नाम के कवि ने स्मरदहन नाम के काव्य का निर्माण किया। इस राजा का विवाह जाङ्गल-देश की राजकुमारी चन्द्र-किरण के साथ हुआ था।

सन् ११३५ और ११५५ ईसवी के बीच, केदिरी-राज्य के सिंहासन पर जयवय नाम का राजा आसीन रहा। उसने बड़ी ख्याति पाई। उसके राज्यकाल के सुखैश्वर्य्य के वर्णन प्राचीन पुस्तकों में लिखे हुए पाये जाते हैं। उसका राज्य धर्म्म-राज्य माना गया है। उसके समय में भारत युद्ध और हरिवंश-नामक ग्रन्थों का उदय हुआ। भारत-युद्ध का वर्णन प्रथम पुस्तक में इस तरह किया गया जैसे वह जावा ही में हुआ हो और कौरव-पाण्डवों के बदले यहीं के नरेशों ने आपस में युद्ध किया हो। लिखा है कि जयवय राजा इतना प्रतापी और पराक्रमी हुआ कि उसने सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तक को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। यह राजा वैष्णव था।

११२९ ईसवी में केदिरी-नरेश को चीन के राजरा-जेश्वर ने "राजा" की उपाधि से अलंकृत किया। उस

समय यवद्वीप के व्यवसायी सामुद्रिक यात्रायें दूर दूर तक करते थे। आफ़रीका के पूर्व-तटवर्ती सोफाला नामक बन्दरगाह तक उनके जहाज़ जाते थे। वे लोग वहाँ से हबशी दास भी जावा को ले आते थे। वे केदिरी-नरेश की सेवा के लिए नियुक्त होते थे। कुछ पुरातत्त्व-वेत्ताओं का खयाल है कि सन् ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में सुमात्रा और जावा के हिन्दुओं ने मैडेगास्कर नामक द्वीप में अपने उपनिवेश स्थापित करके उसे आबाद किया था।

जावा की पुरानी भाषा "कवी" में दो इतिहास बड़े मार्के के हैं। एक का नाम है नगर कृतागम, दूसरे का परा-रतन। पहले ग्रन्थ में ईसा की बारहवीं सदी से १३६५ ईसवी तक का और दूसरी में १४७८ ईसवी तक का इतिहास निबद्ध है। इनसे जो बातें जानी जाती हैं उनका दिग्दर्शन नीचे किया जाता है।

जावा मे केन-अरोक नाम का एक बड़ा ही मायावी सरदार था। वह बुद्धिमान् भी था और साथ ही कुटिल और कपटी भी था। केदिरी के अन्तिम अधिपति का नाश करके, १२२० ईसवी में, वह उस राज्य का स्वामी बन बैठा। उसने श्रृङ्गश्री (सिङ्गसारी) को अपनी राजधानी बनाया। सात वर्ष में वह अपने राज्य को दृढ़ कर ही पाया था कि १२२७ ईसवी में वह मारा गया। उसके अनन्तर दो राजे और हुए; पर उनके राजत्वकाल में कुछ भी विशेष

घटनायें नहीं हुईं। शृङ्गश्री के चौथे राजा कृतनगर का राजत्वकाल, अनेक विषयों में, महत्त्व-पूर्ण घटनाओं के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य की सीमा के पास के पड़ोसवाले कितने ही देशों और प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ करके उन पर विजयप्राप्ति की। परन्तु बाहरी लड़ाइयों में लगे रहने के कारण वह स्वदेश का शासन अच्छी तरह न कर सका। वह बड़ा अभिमानी था। उसने चीन के राजेश्वर कुबिलाईखाँ के भेजे हुए राजदूत तक का अपमान किया। उससे उसके सरदार और मण्डलेश भी नाराज़ थे। फल यह हुआ कि केदिरी के मण्डलेश्वर जयकटोंग ने उसे मार डाला। उसका दामाद रेडन-विजय, इस युद्ध में, अपने ससुर कृतनगर का सहायक था। वह भी जयकटोंग के भय से एक छोटे से टापू को भाग गया। कुछ समय के अनन्तर वह वहाँ से लौटा और कपटाचार की बदौलत अपने शत्रु जयकटोंग को मार कर आप राजा बन गया। उसने माजा-पाहित नाम का एक नया नगर बसाया। वहीं उसने, १२९४ ईसवी में, अपना अभिषेक कराया। सिंहासनासीन होने पर उसने अपना नाम रक्खा—कृतराजस जयवर्धन। जिस स्थान पर इस राजा के शव का दाह हुआ था वहाँ पर उसकी एक बड़ी ही सुन्दर प्रस्तरमूर्ति विद्यमान है। उसमें उसकी आकृति विष्णु की जैसी बनाई गई है। विष्णु के आयुध भी उसमें ज्यों के त्यों बने हुए

हैं। इससे सिद्ध है कि वह पूर्ण वैष्णव था।

कृतराजस का पुत्र निकम्मा नरेश हुआ। उसके बाद उसकी बहन त्रिभुवनोत्तुङ्गदेवी जयविष्णुवर्द्धिनी सिंहासन पर बैठी। उसकी बहन राजदेवी और माता गायत्री भी उसके साथ, राजकार्य्य में, भाग लेती रहीं। रानी का प्रधानामात्य गजमद बड़ा चतुर और शासन-कुशल था। उसने, १३४३ ईसवी में, बाली और उसके निकटवर्ती द्वीपों और प्रान्तों को जीत कर माजापिहित-राज्य की सीमा ख़ूब विस्तृत कर दी। उसने और भी कई राज्यों पर विजय पाने की प्रतिज्ञा की थी। पर उसका यह काम, शायद जयविष्णुवर्धिनी रानी के अनन्तर राजासन प्राप्त करने-वाले हेमऊरुक नामक राजा के राज्यकाल में, सफल हुआ।

इसी समय (शक १२६९) का एक शिलालेख मिला है। वह आदित्यवर्मा का है। वह सुमात्रा का राजा था। उससे सिद्ध है कि यह राजा तान्त्रिक-सम्प्रदाय का बौद्ध था। नगरकृतागम के कर्त्ता प्रपञ्च-पण्डित ने भी अपने ग्रन्थ में लिखा है कि उस समय वहाँ तान्त्रिक क्रियाओं का बड़ा जोर था। सुमात्रा और जावा दोनों ही में तान्त्रिकों का आधिक्य होते होते हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म्मों की जड़ में घुन लग गया। फल यह हुआ कि कालान्तर में, इन द्वीपों में, मुसलमानी धर्म्म के प्रचार के लिए मैदान साफ़ होता गया।

माजापिहित की रानी जयविष्णुवर्द्धिनी राजासन पर इस कारण बैठी थी कि उसका पुत्र हेमऊरुफ अल्प-वयस्क था। १३५० ईसवी में वह वयस्क हुआ और गद्दी पर बैठा। गजमद ही उसका प्रधान मन्त्री बना रहा। इस राजा के राज्य-काल में गजमद के पराक्रम और चातुर्य्य के प्रभाव से, माजापिहित राज्य की बड़ी उन्नति हुई। दूर दूर तक के देश—न्यूगिनी तक के—इस राज्य के अन्तर्भुक्त हो गये। सुमात्रा, बोर्नियो और सिंहपुर (सिंहापुर) आदि सभी द्वीपों के अधिकारियों ने माजापिहित के अधीश्वर के सामने सिर झुकाया। वह एक प्रकार से चक्रवर्ती राजा हो गया और अपना नाम हेमऊरुफ बदल कर श्रीराजसनागर रक्खा। इस राजा ने अनेक बलशाली देशों के शासकों के साथ मैत्री की भी स्थापना की। उनमें से मरुत्तमा (मर्तबान) काम्बोज, चम्पा, यवन (उत्तरी अनाम) और स्यामदेश की अयोध्या तथा राजपुरी के नरेश मुख्य थे।

श्रीराजसनागर के राज्य-काल में माजापिहित राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। दूर देशों में राज्य-शासन के लिए जो सरदार या गवर्नर उसने रक्खे थे वे समय समय पर माजापिहित में उपस्थित होकर राजा की पाद-वन्दना कर जाते थे।

राजा ने भिन्न भिन्न महकमों के कार्य्यनिरीक्षण के

लिए ५ मन्त्री रक्खे थे। उन्हीं की सलाह से वह राज्य-संचालन करता था। उसके मन्त्री और "भुजङ्ग" देश में दौरे भी करते थे। भुजङ्ग एक प्रकार के धर्म्माध्यक्ष अथवा पुरोहित थे। वे राजकार्य भी करते और धर्म्म-सम्बन्धी व्यवस्था आदि भी देते थे। शैव और बौद्ध दोनों धर्मों के अध्यक्ष अलग अलग थे। राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को राजा के "जलधि-मन्त्री" दण्ड देते थे।

श्री राजसनागर की प्रधान महिषी का नाम पुस्ना-देवी था। वह रति का अवतार मानी जाती थी। राज-धानी माजापिहित बड़ा ही शोभाशाली नगर था। उसके इस यवद्वीपीय नाम का संस्कृत रूप बिल्वतिक्त अथवा तिक्तश्रीफल होता है। उसमे सुन्दर सरोवर, विशाल उद्यान, अभ्रङ्कष प्रासाद, बड़े बड़े बाज़ार और मनोहर मन्त्रणागृह (वितान) थे। शैव ब्राह्मण एक तरफ़ रहते थे, बौद्ध दूसरी तरफ़। क्षत्रियों, राज-कर्म्मचारियों और मन्त्रियों के रहने के स्थान भी अलग, एक ओर, थे। सर्वसाधारण-जन, विशेष करके शैव थे। उच्चपदस्थ कर्म्म-चारी और मन्त्रिमण्डल तथा धनी मनुष्य प्रायः बौद्ध थे।

१३८९ ईसवी में हेमऊरुक की मृत्यु हुई। इसके अनन्तर ही माजापिहित की अवनति का आरम्भ हो

गया। मृत-राजा के पुत्र और दामाद में युद्ध छिड़ गया। इस बहुकालव्यापी युद्ध ने राज्य को तहस-नहस कर दिया। कितने ही देशांश और प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। वे बिल्वतिक्त के चक्रवर्ती राजा के आधिपत्य से निकल गये। इसी समय देश में घोर दुर्भिक्ष भी पड़ा। उसने बची-खुची प्रजा का अधिकांश मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया।

इसके आगे बिल्वतिक्त के नरेशों का वृत्तान्त बहुत कम मिलता है। हेमऊरुक की पौत्री सुहिता के राज्य-काल में और भी कई प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। उसके अनन्तर उसके छोटे भाई कृतविजय ने राज्य पाया। उसने चम्पा की राजकुमारी का पाणिग्रहण किया। वह १४४८ ईसवी में मरी। इस रानी का झुकाव इस्लाम-धर्म्म की ओर था। अतएव उसके राज्य-काल ही में इस धर्म्म ने उसके राज्य में धीरे धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया था।

माजापिहित के अन्तिम राजा ब्रा-विजय (पञ्चम) ने मुसलमानों के साथ बहुत कुछ रियायत की। पर उन्होंने उसकी कृपाओं का बदला कृतघ्नता से दिया। वह १४७८ ईसवी में मरा। उसी समय से जावा में मुसलमानों का राज्य हो गया। कालान्तर में उसका नाश करके हालैंड के डचों ने जावा आदि द्वीपों को

अपने अधिकार में कर लिया। उनका वह अधिकार अब तक अक्षुण्ण है।

जावा के अनेक निवासी भाग कर बाली में जा बसे। वहाँ यद्यपि बौद्ध-धर्म्म का भी प्रचार है, पर शैव ब्राह्मणों ही की संख्या अधिक है। इस छोटे से टापू में हिन्दुओं के कई पुराण, वेदों के कुछ भाग तथा राजनीति के कई ग्रन्थ या ग्रन्थांश अब तक, संस्कृत-भाषा में, विद्यमान हैं। रामायण और महाभारत भी, खण्डित रूप में, वहाँ पाये जाते हैं। पर उनकी भाषा संस्कृत नहीं, जावा की प्राचीन भाषा "कवी" है।

[आक्टोबर १९२७

तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतें

भारतवर्ष के शतशः नहीं, सहस्रशः कीर्तिस्तम्भ बलीकाल की कुक्षि में चले गये हैं। उनका अब कहीं पता नहीं। पुराने खँडहर खोदने से यदि कही उनका कोई भग्नांश निकल आता है तो पुराण-वस्तु-विज्ञानी उससे ग्रीस, फारिस, आसिरिया और बैबीलोनिया की बू निकालने लगते हैं। ऐसी कारीगरी उस समय ग्रीस ही में होती थी। अतएव भारतवासियों ने इसे उसी देश के कारीगरों से सीखा होगा। अथवा ऐसे मन्दिर या महल उस युग में फारिस या बाबुल ही में बनते थे। इस कारण, हो न हो, यह वहीं की नकल है। वे लोग इसी तरह के तर्कों की उद्भावनायें करने लगते हैं। पहले इस प्रकार के तर्कों का ज़ोर कुछ अधिक था, पर अब कुछ कम हो गया है। अब भारतवर्ष की पुरानी सभ्यता, और पुराने कला-कौशल के चिन्ह अधिक मिलते जा रहे हैं। इस कारण पुरानी तकना की कुछ इमारतें गिरने नहीं तो हिलने ज़रूर लगी हैं। क्योंकि इन चिन्हो से भारत की सभ्यता के बहुत पुराने होने के प्रमाण पाये जाते हैं। कुछ नये पुराविदों ने तो इस देश की सभ्यता को

लाखो वर्ष की पुरानी सिद्ध करने के लिए पुस्तकें तक लिख डाली हैं।

यहाँ के अनेक महल, मन्दिर, स्तूप और गढ़ आदि तो काल खा गया। पर इस विनाश के विषय में विशेष शोक करने की जरूरत नहीं। क्योंकि जीर्ण होने पर सभी वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। परन्तु जो इमारतें धर्मान्धों और बर्बर विदेशियों ने धर्मान्धता अथवा उत्पीडन की प्रेरणा ही से नष्ट कर दीं उनके असमय-नाश का विचार करके अवश्य ही शोक होता है। प्राचीन काल में तक्षशिला नामक नगरी बड़ी उन्नत अवस्था में थी। वह लक्ष्मी की लीला-भूमि थी। वह विद्वानो का विहार-स्थल थी। यह बड़े बड़े प्रतापी नरेशों का प्रभुता-निकेतन थी। उसका आयतन बहुत विस्तृत था। कई नये नये नगर वहाँ बस गये थे। कई पुराने नगर उजड़ गये थे। चिन्हों से जान पड़ता है कि ईसा के पाँचवे शतक तक तक्षशिला-नगरी विद्यमान थी। तब तक भी वहाँ अनेक अभ्रंकष प्रासाद, स्तूप, विहार आदि उसके वैभव की घोषणा उच्च स्वर से कर रहे थे। अकस्मात् उस पर हूणों ने चढ़ाई कर दी। वहाँ के तत्कालीन अधीश्वर की हार हुई। विजयी हूणो ने उसे खूब लूटा। पर इतने से भी उनकी तृप्ति न हुई। उन्होने उसे जला कर ख़ाक ही कर

दिया। जो अंश ख़ाक हो जाने से बचा वह उजड़ गया। उस पर जंगल उग आया। धीरे धीरे भग्नांश पृथ्वी के पेट के भीतर दब गये।

आरकियालाजीकल महकमे ने अब तक्षशिला के खँडहर खोदकर उन टूटी-फूटी इमारतों को बाहर निकालना शुरू किया है। यह काम कई सालों से जारी है। अब तक जो भग्नांश खोद निकाले गये हैं और उनसे जो जो चीज़ें प्राप्त हुई हैं उनका वर्णन इस महकमे की सचित्र सालाना रिपोर्टों में छप चुका है। अब इस महकमे के अध्यक्ष, सर जान मार्शल, ने प्रत्येक भग्नांश का विवरण पृथक् पृथक् पुस्तकों में प्रकाशित करने का क्रम जारी किया है। इससे यह सुभीता होगा कि प्रत्येक स्थान-विशेष का वर्णन एक ही जगह मिल जायगा। तक्षशिला की खुदाई से अब तक जो ऐतिहासिक पदार्थ—मूर्तियाँ, स्तूप, औज़ार, व्यावहारिक वस्तुयें, सिक्के आदि—निकले हैं उन पर, साधारण तौर पर, एक अलग पुस्तक भी प्रकाशित की गई है। उसका नाम है—A guide to Taxila उसमें तक्षशिला की खोद-निकाली गई इमारतों का भी वर्णन है।

प्राचीन तक्षशिला के खँडहरों की सीमा के भीतर एक जगह जौलियाँ (Jaulian) नाम की है। उसे खोदने से जो इमारतें और जो पदार्थ निकले हैं उनका विवरण, एक अलग पुस्तक में, अभी हाल ही में, प्रकाशित

हुआ है। वह अँगरेज़ी मेंहै और सचित्र है। नाम है—Excavations at Taxila—The Stupas and Manasteries at Jaulian इसका भी प्रकाशन सर जान मार्शल ही ने किया है। इसका अधिकांश उन्हीं का लिखा हुआ भी है। अल्पांश के लेखक और कई महाशय है। पुस्तक में छोटे बड़े अनेक चित्र हैं।

जौलियाँ में, जहाँ खुदाई हुई है वहाँ, कोई डेढ़ हज़ार वर्ष पहले बौद्धों के कितने ही स्तूप, विहार और चैत्य आदि थे। ये सब एक ऊँची जगह, पहाड़ी पर, थे। खोदने पर इन इमारतों में आग लगकर गिर जाने के चिन्ह पाये गये है। ईसा की पाँचवी सदी में तक्षशिला और उसके आस पास के प्रान्त पर हूणों के धावे हुए थे। उन्होंने उस प्रान्त का विध्वंस-साधन किया था। बहुत सम्भव है, उन्होंने जलाकर इन इमारतों का नाश किया हो।

खोदने से इन खँडहरों में एक बहुत बड़े स्तूप का खण्डांश निकला है। छोटे छोटे स्तूप तो बहुत से निकले हैं। यहीं, स्तूपों के पास, बौद्ध भिक्षुओं के रहने की जगह भी थी। वह एक विस्तृत विहार था, जिसमे पचास साठ भिक्षुओं के रहने के लिए अलग अलग कमरे थे। वह दो मँज़िला था।

खोदने से, जौलियाँ में, बुद्ध और बोधिसत्वों की बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं। कई मूर्तियाँ अखण्डित हैं और बड़ी विशाल हैं। स्तूपों के चारों ओर, कई कतारों में, मिट्टी और चूने के पलस्तर की और भी सैकड़ों मूर्तियाँ पाई गई हैं। वे बुद्ध, बोधिसत्वों, भिक्षुओं, उपासिकाओं, देवों और यक्षों आदि की हैं। इन सबकी वेश-भूषा, आभूषण आदि देखकर उस समय के वस्त्राच्छादन और सामाजिक व्यवस्था का सच्चा हाल मालूम हो सकता है। पुरुषों के उष्णीष और अङ्ग-वस्त्र, स्त्रियों के सलूके और कर्ण-कुण्डल, तथा देवों और यक्षों के कुतूहल-जनक आकार-प्रकार और भावभङ्गियाँ बड़ी योग्यता से मूर्तियों में दिखाई गई हैं। उस समय के भारतवासियों ने जिन हूणों को म्लेच्छ संज्ञा दे रक्खी थी उनकी भी मूर्तियाँ मिली हैं। जिन धार्मिक बौद्धों ने अपने अपने नाम से स्तूप बनवाये थे उनके खुदाये हुए, खरोष्ठी लिपि में, कई अभिलेख भी यहाँ मिले हैं। वे कुछ कुछ इस प्रकार के हैं—

"बुद्धरच्छितस भिक्षुस दनमुखो"

अर्थात् भिक्षु बुद्धरक्षित का दान किया हुआ।

पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान था कि ३०० ईसवी ही में खरोष्ठी लिपि का रवाज भारत से उठ गया था। पर यह बात इन अभिलेखों से गलत साबित हो गई, क्योंकि ये

चौथी या पाँचवीं सदी के हैं। इससे ज्ञात हुआ कि और भी सौ दो सौ वर्ष तक इस लिपि का रवाज भारत के पश्चिमोत्तर भाग में था।

खोदने से यहाँ अनेक प्राचीन सिक्के, मिट्टी के वर्तन और सीलें, लोहे और ताँबे के अरघे, चमचे, जंजीरें और कील-काँटे आदि निकले हैं। सोने की भी कुछ चीजे प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के एक वर्तन के भीतर एक अधजली पुस्तक भी मिली है। वह भोजपत्र पर लिखी हुई है। संस्कृत भाषा में है। बौद्ध धर्म्म-विषयक कोई ग्रन्थ मालूम होता है। प्रायः वसन्त-तिलकवृत्त में है। खेद है, इसका एक भी पृष्ठ पूर्ण नहीं।

कई स्तूपों में अस्थिभस्म भी मिली है। मालूम होता है कि कितने ही छोटे छोटे स्तूपों के भीतर अस्थि-भस्म रक्खी गई थी। क्योंकि रखने की जगह तो बनी हुई है, पर अस्थिगर्भ डिब्बे या बक्स नहीं मिले। वे या तो नष्ट हो गये या निकाल लिये गये। स्तूप नम्बर ११A में एक छतरीदार, २ फुट ८ इंच ऊँची, विचित्र बनावट की एक चीज़ मिली है। वह पलस्तर की है और स्तूपाकार है। उस पर नीला और सुर्ख रङ्ग है। ऊपर कई प्रकार के पत्थर, जिनमें से कुछ रत्नसदृश भी हैं, जड़े हुए हैं। जिस कोठरी के भीतर यह चीज़ मिली है वह १०॥ इंच चौकोर और २ फुट ८॥ इञ्च ऊँची है। इस

स्तूपाकार वस्तु के भीतर लकड़ी की एक छोटी सी डिबिया थी। वह सड़ी मिली है। उसमें मूंगा, सुवर्ण पत्र, हाथीदाँत, बिल्लौर के मनके आदि थे। उसके भी भीतर धातु की एक छोटी सी डिबिया थी। उस डिबिया के भी भीतर एक और डिबिया थी। उसी में काली काली ज़रा सी राख थी। यह राख किसीकी अस्थियों को अव-शिष्ट भस्म के सिवा और क्या हो सकती है।

यदि भारत के प्राचीन खँडहरों की खुदाई के लिए गवर्नमेंट कुछ अधिक रुपया खर्च करती और यह काम कुछ अधिक झराटे से होता तो दस ही पाँच सालों में अनेक खँडहर खुद जाते और उनसे निकली हुई वस्तुओं और इमारतों के आधार पर प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सुभीता होता। परन्तु, अभाग्यवश, वह दिन अभी दूर मालूम होता है।

[मार्च १९२२

अफ़ग़ानिस्तान में बौद्धकालीन चिन्ह।

भारत की कूपमण्डूकता और दीनावस्था बहुत पुरानी नही। एक समय था जब इस बूढ़े भारत की सत्ता और सभ्यता की पताका एशिया ही मे नही, योरप और अफ़रीका तक में फहराती थी। सम्राट् अशोक के राजत्व-काल की याद कीजिए, जब बौद्ध-श्रमणो के जत्थे के जत्थे सीरिया, स्याम, मिस्र, मक़दूनिया और एपिरस तक पहुँचे थे और भगवान् बुद्ध के प्रतिष्ठित धर्म्म के सदुपदेशों से वहाँ वालो को उपकृत करते थे। उस समय उन देशों में यूनानियो का आधिपत्य था। बौद्ध-धर्म्म के उपदेशको का प्रभाव विदेशियों पर यहाँ तक पड़ा था कि कुशान-नरेश कनिष्क भी इस धर्म्म में दीक्षित हो गया था। कनिष्क कोई छोटा-मोटा राजा न था; वह राजेश्वर था। उसने अपने गृहीत धर्म्म के प्रभाव से दूरवर्ती चीन तक को प्रभावान्वित किया था। भारतीय धर्म्म ही नहीं, भारतीय चित्रकला, मूर्ति-निर्माण-विद्या और संगीत तक ने मध्य-एशिया की राह चीन और जापान तक में प्रवेश किया था। हाय, जिस भारत ने अपने धर्म्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यत्ता का पाठ

दूसरे दूसरे देशों और -सरी दूसरी विलायतों को पढ़ाया वही आज असभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने ठीक ही कहा है—

हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः

रणजीत पण्डित नाम के एक बारिस्टर ने "माडर्न-रिव्यू' में एक लेख, अभी कुछ ही महीने पूर्व लिखा है। उसमें उन्होने उन बौद्ध-कालीन इमारतो—स्तूपों, चैत्यों और विहारो आदि—के ध्वंसावशेषों का वर्णन किया है जो अफ़ग़ानिस्तान के सदृश कट्टर मुसलमानी देश में भी अब तक पाये जाते हैं। उनका वर्णन पढ़कर कौन ऐसा स्वदेशप्रेमी भारतवासी होगा जो अपनी वर्तमान दयनीय दशा पर शोक से आकुल न हो उठे? बौद्ध-विद्वान् कुमारजीव भारतवासी ही थे। उन्होने चीन जाकर वहाँ अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। परमार्थ पण्डित और बोधिधर्म्म आदि भारतवासियों ने, सैकड़ों हस्तलिखित बौद्ध-ग्रन्थों को अपने साथ ले जाकर, चीन में उनका प्रचार किया और अनन्त चीनियों को अपना समानधर्म्मा बनाया। इधर इन लोगो ने यह सब किया, उधर चीन देश के निवासी कितने ही बौद्ध-श्रमणो ने भारत की यात्रायें करके यहाँ के धर्म्मग्रन्थों और धर्म्म-भावों से अपने देशवासियों को बौद्ध बनाने में सहायता पहुँचाई।

ईसा के आठवें शतक में अरबों ने अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण किया। धीरे धीरे वे लोग मध्य-एशिया तक जा पहुँचे। अतएव उन देशों मे फैली हुई भारतीय सभ्यता पर आघात होने लगे। तथापि भारतीय विद्या और कलाकुशलता की क़दर उन लोगों ने भी की। ख़लीफ़ा हारूनुरशीद के ज़माने मे भारतीय विद्वानों और कला-कोविदों का सम्मान बग़दाद में भी हुआ। वहाँ उन्होंने अरबों पर भी अपनी विद्वत्ता की धाक जमाई।

नवीं सदी में सम्राट् कनिष्क का वंशज अफ़ग़ानिस्तान और उसके आस पास के प्रान्तों का अधीश्वर था। उसकी राजधानी काबुल नगर में थी। ८७० ईसवी में अरबो के सेनानायक याकूब-ए-लैस ने उसे परास्त करके उसका राज्य छीन लिया। तभी से वहाँ इस्लामी राज्य की नींव पड़ी। परन्तु यह न समझना चाहिए कि, इस कारण, उन देशो का सम्पर्क भारत से छूट गया। नही, भारतीय पण्डितों और भारतीय शास्त्रवेत्ताओं की क़द्र करना उस समय के मुसलमान बादशाहों और ख़लीफ़ो ने बन्द नहीं किया। वे उन्हें बराबर अपने देश में सादर बुलाते और उनकी विद्या-बुद्धि से लाभ भी ख़ूब उठाते रहे। यह उस समय की बात है जब अफ़ग़ानिस्तान तथा उसके पास-पड़ोस के प्रान्तों में हिन्दुओं और बौद्धों

ही की बस्ती अधिक थी। ये लोग अलप्तगीं और सुबुक्तगीं इत्यादि जनरलों के आक्रमणों से अपनी रक्षा यथाशक्ति करते रहे। पर अनेक कारणों से इन्हें परास्त होना पड़ा और ९९० ईसवी में लमगान का क़िला भारतीयों के हाथ से निकल गया। यह जगह काबुल से ७० मील है। अन्त में महमूद ग़ज़नवी ने भारतीय सत्ता का समूल ही उन्मूलन कर डाला। केवल क़ाफ़िरिस्तान उसके आधिपत्य से बच गया। वहाँ, उस प्रान्त में, अब तक भी बहुत कम मुसलमान पाये जाते हैं। तदितर धर्म्म वाले ही वहाँ अधिक हैं।

इस संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि जिस अफ़ग़ानिस्तान और मध्य-एशिया में इस समय इस्लामी डङ्का बज रहा है वहाँ मुसलमानों की अधिकार-प्राप्ति के पहले हजारों वर्ष तक भारतीय सभ्यता और सत्ता का दौर-दौरा था। अतएव यदि वहाँ बौद्धकालीन ऐतिहासिक चिन्ह अब भी, टूटी फूटी दशा में, बहुत से पाये जायँ तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

मुसलमानों ने तो हिन्दुओं की पुरानी इमारतों और पुराने चिन्हों की रक्षा दूर, उनका विनाश करना ही, बहुधा अपना कर्तव्य समझा। अतएव उनके जो ध्वंसावशेष यत्र तत्र बच गये हैं उसे दैवयोग ही समझना चाहिए। मध्य-एशिया के प्राचीन चिन्हों की खोज करके

कई अँगरेज़, जर्मन और फरासीसी विद्वान् अनेक अज्ञात और विस्मृत बातों का पता लगा चुके हैं। उनका यह काम १८९७ ईसवी से शुरू हुआ था और अब तक जारी है। पर १९२२ ईसवी तक, किसी भी स्वदेशी पुरातत्त्वज्ञ ने अफ़ग़ानिस्तान में प्राचीन चिन्हों का पता लगाने की चेष्टा नहीं की थी। फरासीसी पण्डित फ़ूशर (Foucher) ने, उस वर्ष, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर की आज्ञा से, पहले-पहल खोज का काम शुरू किया। खोज से उन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण स्तूपों, मीनारों, मूर्तियों आदि का पता लगा। उनमें से कितनी ही वस्तुओं को उठा कर वे पेरिस ले गये। वहाँ पर वे एक अजायबघर में रक्खी गई हैं। उन्हें देख कर पुरातत्त्व के पण्डितों और भारत की प्राचीन कारीगरी के ज्ञाताओं को अपार आनन्द और आनन्द के साथ आश्चर्य तथा परिताप भी होता है। जो भारत इस समय अपने प्राचीन गौरव को भूल सा गया है उसी ने, किसी समय, दूर दूर तक के देशों में अपनी सभ्यता और अपनी कला-कुशलता का प्रकाश फैला कर अपनी सत्ता चलाई थी। यह जान कर किस विवेकशील भारतवासी की आँखों से आँसू न निकल पड़ेंगे ?

जलालाबाद, हिद्दा और काबुल में जो बौद्धकालीन चिन्ह—मूर्तियाँ और मूर्ति-खण्ड आदि—मिले हैं उनमें

गान्धारशैली की शिल्पकला पाई जाती है। पर जो चिन्ह बामियान और उसके पास-पड़ोस के स्थानों में प्राप्त हुए हैं वे बौद्ध-कालीन शिल्प के सच्चे नमूने हैं। हाँ, उनमें ग्रीस अर्थात् यूनान की कारीगरी का भी कुछ असर पड़ा मालूम होता है।

सम्राट् कनिष्क का ग्रीष्म-निवास, कपिशा नाम के नगर में था। जहाँ पर वह था वहाँ अब बेगरम नाम का नगर आबाद है। जिस नगरहार में दीपङ्कर बुद्ध ने, अपनी तपस्या के प्रभाव से, कितनी ही आश्चर्य-जनक घटनायें कर दिखाई थीं वही अब जलालाबाद के नाम से विख्यात है। हिद्दा वह जगह है जहाँ गौतम बुद्ध के भौतिक शरीर का कुछ अंश रक्खा गया था और जिसके दर्शनों के लिए सैकड़ों कोस दूर से बौद्ध-यात्री आया करते थे। इन स्थानों में जो स्तूप, विहार, चैत्य और मूर्तियाँ मिली हैं वे बिलकुल वैसी ही हैं जैसी कि तक्षशिला और तख्ते-बाही आदि के धुस्सों को खोदने से मिली हैं। हिद्दा में तो पत्थर की कारीगरी की कुछ ऐसी भी चीज़ें प्राप्त हुई हैं जिनकी बराबरी भारत में प्राप्त हुई गान्धारशैली की कारीगरीवाली चीज़ें भी नहीं कर सकतीं।

हिद्दा में जिस स्तूप को फरासीसी पुरातत्त्वज्ञों ने खोज निकाला है उसे वहाँ वाले अपनी भाषा पश्तो में

ख़ायस्ता का स्तूप कहते हैं। "ख़ायस्ता" का अर्थ है—विशाल। और यह स्तूप सचमुच ही बहुत विशाल है। यह बहुत अच्छी दशा में भी है। जिस समय फाहीन नाम का चीनी परिव्राजक हिद्दा के पवित्र तीर्थ का दर्शन करने आया था उस समय वहाँ पर एक अभ्रङ्कष बौद्ध-विहार था। उसके विषय मे उसने लिखा है कि धरातल चाहे फट जाय और आकाश चाहे हिंडोले की तरह हिलने लगे, पर यह विहार अपने स्थान से इंच भर भी हटने-वाला नही।

हिद्दा में कई स्तूप थे। उनमें बुद्ध भगवान् के शरीरावशिष्ट अंश—शीर्षास्थि, दाँत और दण्ड आदि—रक्षित थे। उनकी रक्षा और पूजा-अर्चा के लिए कपिशा के राजा ने कुछ पुजारी नियत कर दिये थे। जिस स्तूप में बुद्ध के सिर की अस्थि रक्खी थी उसका दर्शन करने वालो को एक सुवर्णमुद्रा देनी पड़ती थी। जो यात्री मोम इत्यादि पर उस अस्थि का चित्र अर्थात् प्रतिलिपि लेना चाहते थे उनसे पाँच सुवर्ण-मुद्रायें ली जाती थीं। इसी तरह अन्यान्य शरीरांशों के दर्शनों की भी फीस नियत थी। फिर भी—इतने दाम देकर भी—दर्शनार्थियो की भीड़ लगी ही रहती थी। इन बातों का उल्लेख चीन के प्रसिद्ध परिव्राजक हु-एन-सङ्ग ने, अपनी यात्रा-पुस्तक में, किया है। उसने लिखा है कि बुद्ध के

ये शरीरांश हिद्दा के स्तूपों में एक बहुमूल्य सुवर्ण-सिंहासन पर अधिष्ठित हैं।

किसी समय जिस हिद्दा की इतनी महिमा थी और जिसके विशालत्व और वैभव की इतनी ख्याति थी वह अब इस समय एक छोटा सा गाँव मात्र रह गया है। अथवा यह कहना चाहिए कि उसका तो सर्वथा नाश हो चुका। उसकी जगह पर कुछ घरों का एक नया पुरवा या खेरा आबाद है। संघारामों और विहारों की इमारतें नष्ट-भ्रष्ट होकर टीलों में परिणत हो गई हैं। यहाँ अब मिट्टी, बालू और कंकड़ों के सिवा और कुछ भी शेष नहीं। स्तूपों में जो मूर्तियाँ और जो कारीगरी थी वह भी नामशेष हो गई है। बहुत ढूँढ़ने से कहीं कहीं कारीगरी और रङ्ग-आमेज़ी के कुछ चिन्ह देखने को मिल जाते हैं।

जिस समय हुएन-सङ्ग भारत आया था उस समय गान्धार में बौद्ध-धर्म्म का ह्रास हो रहा था। गान्धार की राजधानी पुरुषपुर अर्थात् वर्तमान पेशावर थी। पुरुषपुर, नगरहार और हिद्दा, ये तीनों नगर और उनके पास के प्रान्त कपिशा के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कपिशा का राज राजेश्वर क्षत्रिय था। वह बौद्ध-धर्म्म का अनुयायी था। हर साल वह १८ फुट ऊँची चाँदी की एक बुद्ध-मूर्ति तैयार करा कर उसका पूजन करता था। इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा उत्सव होता था और

मोक्षमहापरिषद् नाम की एक सभा का अधिवेशन किया जाता था। उस समय सम्राट् दीन-दुखियों को दान देता और हर तरह से उनकी सहायता करता था।

कपिशा के विस्तृत राज्य में उस समय कोई एक सौ विहार थे। उनमें ६ हज़ार बौद्ध श्रमण रहते थे। स्तूपों और संघारामों की इमारतें बहुत विशाल थीं। वे इतनी ऊँची थीं कि दूर से वे देख पड़ती थीं। उनके सिवा, हिन्दुओं के भी सैकड़ों मठ और मन्दिर थे।

बौद्ध काल में काबुल में भी बौद्धों के कितने ही स्तूप और विहार थे। पर वे सब अब नामनिःशेष हो गये हैं। उनकी जगह पर अब केवल खँडहरों के कुछ चिन्ह और ध्वंस-मात्र रह गये हैं। हाँ, एक बहुत ऊँचा स्तम्भ अब तक खड़ा हुआ है। न वह भूकम्पों ही से भूमिसात् हुआ, न उस पर भवनभञ्जकों और मूर्तिसंहारकों ही की कुदालों का कुछ बस चल सका।

हु-एन-संग जिस समय बामियान में आया था उस समय वहाँ बौद्ध-धर्म्म ऊर्जितावस्था में था। वहाँ के निवासी बड़े ही धर्म्मनिष्ठ थे। वे विशेष करके लोकोत्तर-वादी सम्प्रदाय के थे। दस विहार और कोई एक हजार श्रमण, उस समय, वहाँ थे। बुद्ध की एक प्रस्तरमूर्ति, १५० फुट ऊँची और उससे कुछ दूरी पर धातु की दूसरी मूर्ति १०० फुट ऊँची, खड़ी आसमान से बातें करती

थी। छोटी छोटी मूर्तियाँ तो और भी कितनी हीं थीं। १८७९ ईसवी के अफ़ग़ान-युद्ध के समय जनरल के ने जो मूर्ति वहाँ देखी थी उसका वर्णन उन्होंने भी अपने, एक लेख में, किया है। यह मूर्ति वहाँ अब तक विद्यमान है। बामियान के निवासी उसे अज़दहा कहते हैं। उन्होंने यह कल्पना कर ली है कि किसी मुसलमान फ़कीर ने इस अज़दहे को मारा था। उसी की यह यादगार है।

बौद्धों के ज़माने में जो बामियान धन-लक्ष्मी का विलास-स्थान था और जहाँ हज़ारों कोस दूर से यात्रियों के जत्थे आया करते थे, उसे, ईसा की आठवीं सदी में, अरबों ने उजाड़ दिया। अनन्त बौद्ध भिक्षुओं को उन्होंने तलवार के घाट उतार दिया। उनकी इमारतों को तोड़ फोड़ कर ज़मींदोज़ कर दिया। इसके कुछ समय पीछे, बामियान की तराई की दूसरी तरफ़, शहरे-ग़ोल-ग़ोला नाम का एक नगर बसा। परन्तु बारहवीं सदी में चंगेज़ख़ाँ मंगोल ने उसे भी विध्वंश करके बौद्धों के बामियान की दशा को पहुँचा दिया। काल बड़ा बली है। वह सदा बनाने और बिगाड़ने ही के खेल खेला करता है। अभ्रङ्कष प्रासादों और दुर्दान्त सम्राटों को देख देखकर वह हँसता है। वह कहता है—तुम्हारी यह शानो-शौक़त है कितने दिन के लिए ! इन्हीं खेलों

को देख कर एक कवि ने कहा है—

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयना
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः ।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव शिव शिवानां कलकलः ॥

[जुलाई १९२७

मध्य-एशिया के खँडहरों की खुदाई का फल।

जिस समय बौद्ध-धर्म्म अपनी ऊर्जितावस्था में था उस समय यूनान, रूम, मिस्र, बाबुल आदि की तो बात ही नहीं, मध्य-एशिया की राह, उसके आचार्य्य चीन तक जाते और वहाँ अपने धर्म्म का प्रचार करते थे। अफ़ग़ानिस्तान तो उस समय भारतीय साम्राज्य का एक अंश ही था। उस समय तो भारतवासी बलख़, बुख़ारा, ख़ुरासान, खोटान और ताशक़न्द तक फैले हुए थे। चीन और भारत के बीच आवागमन का मार्ग उस प्रान्त से था जिसे इस समय पूर्वी तुर्किस्तान कहते हैं। बर्बर मुसलमानों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीनियों ने जो इतिहास-प्रसिद्ध दीवार बनाई थी उसका कुछ अंश इस पूर्वी तुर्किस्तान में भी था। इस प्रान्त में पहले कई बड़े बड़े नगर थे। बौद्धों के विहारों और मठों से यह प्रान्त सर्वत्र भरा हुआ था। इन मठों में बड़े बड़े बौद्ध विद्वान् निवास करते थे। वे हज़ारों विद्यार्थियों को विद्यादान देते थे। उन्होंने बहुमूल्य पुस्तकालयों तक की स्थापना अपने मठों में की थी। जो

बौद्ध श्रमण चीन से भारत और जो भारत से चीन जाते थे वे इन्हीं मठों और विहारों में ठहरते हुए जाते थे। इन लोगों के क़ाफिले के क़ाफिले चलते थे। चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग और इत्सिंग आदि इसी मार्ग से भारत आये थे। उनके यात्रा-वर्णनों में इस मार्ग मे पड़नेवाले नगरों, नदियो पर्वतों, रेगिस्तानों आदि का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है।

कालान्तर में बर्बर मुसलमानों का जोर बढ़ने पर उन्होंने चीन और भारत के बीच के इस राजमार्ग को धीरे धीरे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मठों, स्तूपों और विहारों को उजाड़ दिया; हजारों बौद्ध-श्रमणों को तलवार के घाट उतार दिया; नगरों को तहस-नहस करके उन्हें ज़मीदोज़ कर दिया। ये सभी स्थान बालू के टीलों में परिणत हो गये। तूफ़ानों के कारण उड़ी हुई बालू ने इन सबको अपने नीचे यहाँ तक दबा दिया कि उनका नामो-निशान तक न रहा।

अपने ऊपर आई हुई या आनेवाली विपत्ति से अपनी प्राण-रक्षा असम्भव समझ कर बौद्ध विद्वान् प्राणदान देने के लिए तैयार हो गये। परन्तु उन्होंने अपने एकत्र किये हुए ग्रन्थ और चित्रादि के समुदाय को अपने प्राणों से भी अधिक समझा। अतएव कहीं कहीं उन्होंने उस समुदाय को पर्वतों की गुफाओं के भीतर,

कहीं कहीं ज़मीन के नीचे भूतलवर्तिनी कोठरियों के भीतर, और कहीं कहीं पत्थर की सन्दूकों के भीतर रख कर उन्हें छिपा दिया। उनमें से अनेक वस्तु-समुदाय तो अवश्य ही नष्ट हो गये, पर जो गुफाओं के भीतर और पृथ्वी के पेट में छिपा दिये गये थे वे अब धीरे धीरे निकलते जाते हैं। इसका विशेष श्रेय बौद्ध और हिन्दू-धर्म्म के अनुयायियों को नहीं; योरप के पुरातत्त्व प्रेमी ईसाइयों को है। लाखों रुपया ख़र्च करके और कठिन से भी कठिन क्लेश उठाकर ये लोग उन निर्जन वनों और रेतीले स्थानों के ध्वंसावशेष खोद खोद कर उन हज़ारों वर्ष के पुराने ग्रन्थो और काग़ज़-पत्रों को ज़मीन के पेट से बाहर निकाल रहे हैं। उनमें से कितने ही तो विवरण और टीका-टिप्पणी-सहित छपकर प्रकाशित भी हो गये। परन्तु अभी अनन्त रत्नराशि प्रकाश में आने को बाक़ी है।

१८७९ ईसवी में जर्म्मन विद्वान् डाक्टर रेजल का ध्यान चीनी तुर्किस्तान के उजाड़-खण्ड की ओर आकृष्ट हुआ। वे वहाँ गये। उन्हें वहाँ कितने ही प्राचीन खँड-हरों का पता चला। इसके बाद रूस के रहनेवाले दो पुरातत्त्ववेत्ताओं ने, १८९६-९७ ईसवी में, उसी तुर्कि-स्तान के तुरफ़ान-प्रान्त में खोज की। उन्हें, अपनी खोज में, जो जो चीज़ें मिलीं उनका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी भाषा में प्रकाशित किया। उनकी देखादेखी फिन-

लैंड के भी कुछ पुरातत्त्वज्ञों ने उस रेगिस्तान में पदार्पण करके वहाँ का कुछ हाल लिखा। इस तरह, धीरे धीरे, लोगो का कौतूहल बढ़ता ही गया। अन्त में रूसी विद्वान् रैडलफ ने, १८९९ ईसवी में, प्रत्नतत्वविशारदो की एक सभा में, इस बात का प्रस्ताव किया कि पूर्वी और मध्य-एशिया के खँडहरों की बाक़ायदा जाँच की जाय। यह प्रस्ताव "पास" हो गया। तब से इन प्रान्तो को जाँच के लिए कई देशों के विद्वानों के यूथ के यूथ वहाँ पहुँचे और अनेक बहुमूल्य पुस्तकों, मूर्तियों, चित्रों आदि का पता लगा कर उन्होंने उन पर बड़े मार्के के लेख प्रकाशित किये। यहाँ तक कि सुदूरवर्ती जापान तक ने कई विद्वानों को भेजकर वहाँ खोज कराई वे लोग भी कितनी ही बहुमूल्य सामग्री अपने देश को ले गये।

१८९१ ईसवी मे ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के एक दूत चीनी तुर्किस्तान मे थे। उनका नाम था कप्तान बावर। उन्हें भोजपत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ मिला। उसे उन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेज दिया। डाक्टर हार्नली ने उसे पढ़ा। मालूम हुआ कि वह गुप्त-नरेशों के समय की देवनागरी लिपि में है और ईसा की चौथी शताब्दी में लिखा गया था। अतएव उसकी रचना उसके भी बहुत पहले हुई होगी। एक आध को छोड़ कर इससे अधिक पुरानी हस्तलिखित पोथी भारत में

कहीं नहीं पाई गईं। जो पोथियाँ सबसे अधिक पुरानी हैं वे ईसा के ग्यारहवें शतक के पहले की नहीं। यहाँ की आबोहवा में इससे अधिक पुरानी पुस्तकें रही नहीं सकतीं; वे टूट फूट कर नष्ट हो जाती हैं। बावर साहब को मिली हुई पोथी में भिन्न भिन्न सात पुस्तकें हैं। उनमें से तीन वैद्यक विषय की हैं। अवशिष्ट पुस्तकें विशेष करके बौद्ध-धर्म्म से सम्बन्ध रखती हैं।

जब से बावर साहब की पोथी प्रकट हुई तब से तुर्किस्तान के रेगिस्तानी खँडहरों की खुदाई आदि का काम और भी जोरों से किया जाने लगा। फ्रांस, रूस, स्वीडन, जर्मनी आदि के पुरातत्वज्ञ वहाँ से राशि राशि प्राचीन वस्तु-समुदाय अपने अपने देश को उठा ले गये। चुनांचे ब्रिटिश गवर्नमेंट भी इस सम्बन्ध में चुप नहीं रही। कलकत्ता-मदरसा के प्रधान अध्यापक डाक्टर आरल स्टीन, की योजना उसने इस काम के लिए की। १९००–०१ ईसवी में डाक्टर साहब चीनी तुर्किस्तान को गये। वहाँ उन्होंने खुतन या खोटान (Khotan) के सूबे में जाँच-पड़ताल की। उन्हें अपने काम में अच्छी कामयाबी हुई। अनेक प्रत्न-रत्न उन्हें प्राप्त हुए। उनका वर्णन उनकी लिखी हुई पुस्तक—"प्राचीन खोटान" (Ancient Khotan) में सविस्तर पाया जाता है। इसके बाद डाक्टर साहब ने चीनी तुर्किस्तान पर दो

चढ़ाइयाँ और कीं। उनकी तीसरी चढ़ाई १९१३ में हुई। १९०६ ईसवी वाली दूसरी चढ़ाई में उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जो बाहर से बन्द थी, परन्तु भीतर जिसके पुस्तकें भरी हुई थीं। इन पुस्तकों का कुछ ही अंश डाक्टर स्टीन को मिला; अवशिष्ट अंश एम० पेलियो नाम के एक फ्रेंच विद्वान् के हाथ लगा। इस चढ़ाई का बहुत ही विशद वर्णन डाक्टर स्टीन ने पाँच बड़ी बड़ी जिल्दों में किया है। वे प्रकाशित भी हो गई हैं। उनका नाम है सेरेण्डिया (Serindia)।

अपनी दूसरी चढ़ाई में जिस समय डाक्टर स्टीन तुर्किस्तान में प्राचीन चिन्हों और वस्तुओं की खोज कर रहे थे उसी समय मध्य एशिया में खोज करने के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक परिषद् की स्थापना हुई। इसकी सहायता फ्रांस की गवर्नमेण्ट ने भी धन से की और कई एक अन्य सभाओं ने भी की। इस परिषद् ने एक चढ़ाई की योजना की। एम० पेलियो, जिनका नाम ऊपर एक जगह आया है वे इसके प्रधानाध्यक्ष नियत हुए। वे अपने दल-बल-समेत जून १९०६ में पेरिस से रवाना हुए और मास्को, ताशकन्द होते हुए, पामीर के उत्तर काशगर तक पहुँच गये। वहाँ आस पास खोज करते हुए वे तुन-हॉग नामक स्थान में पहुँचे। इसके कुछ ही समय पहले डाक्टर स्टीन एक गुफा से

बहुत-सी पुस्तकें प्राप्त करके लौट चुके थे। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन स्थान था। इसकी ख़बर पेलियो को पहले ही से थी। उन्होंने यह भी सुन लिया था कि डाक्टर स्टीन वहाँ से बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें लेकर पहले ही चम्पत हो गये हैं। फिर भी उन्होंने वहाँ पर अपने मतलब की कुछ चीज़ें पाने की आशा न छोड़ी।

खोज करने पर पेलियो को मालूम हुआ कि वैंग-ताउ नाम का एक चीनी बौद्ध पुरानी पुस्तकों का स्थिति-स्थान जानता है। पता लगाने पर वह बौद्ध साधु उन्हें मिल गया। पेलियो ने उससे हेल-मेल पैदा करके पुस्तकों का अनुसन्धान लगाने की प्रार्थना की। उसने इस प्रार्थना को स्वीकार किया। वह उन्हें एक ऐसी जगह ले गया जहाँ पर कोई एक हज़ार वर्ष की पुरानी सैकड़ों बौद्ध-गुफायें या कोठरियाँ थीं। उनमें से, किसी समय, उसने एक को खोल कर देखा था और वह उसे पुस्तकों से परिपूर्ण मिली थी। इसी गुफा को वैंगे ने पेलियो के लिए खोला। खोलने पर जो दृश्य पेलियो को दिखाई दिया उससे उनके आश्चर्य और हर्ष की सीमा न रही। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के अन्त में जब मुसलमानों ने बौद्धों के नाश का बीड़ा उठाया तब उस प्रान्त के बौद्ध विद्वानों ने अपना सारा ग्रन्थ और चित्र-समुदाय लाकर उस गुफा में बन्द कर दिया। फिर उसका मुँह

चुनवा दिया और चुनी हुई जगह पर बेल-बूटे और चित्र खिंचा दिये। यह इसलिए किया, जिसमें वह दीवार-सी मालूम हो; किसी को यह सन्देह न हो कि यह गुफा है और इसके भीतर पुस्तकें भरी हुई हैं। मुसलमानों ने पुस्तकादि के इस संग्रह के स्वामी बौद्धो की क्या दशा की, कुछ मालूम नहीं। तब से १९०६ ईसवी तक यह गुफा बराबर बन्द ही रही।

इस गुफा के भीतर कोई १५ हजार पुस्तकें संस्कृत, प्राकृत, चीनी, तिब्बती तथा कई अन्य अज्ञात भाषाओं और लिपियों में—मिली। रेशम के टुकड़ो पर खिंचे हुए सैकड़ों अनमोल चित्र भी प्राप्त हुए। पुस्तकें सभी ग्यारहवीं सदी के पहले की हैं। कितनी ही ब्राह्मी लिपि में हैं। अधिकतर पुस्तकों का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म्म से है। परन्तु काव्य, साहित्य, इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि शास्त्रों से भी सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें इस पुस्तकालय से मिली। संस्कृत-भाषा में लिखी हुई कितनी ही पुस्तकें इसमें ऐसी हैं जो भारत में सर्वथा अप्राप्य है। यहाँ तक कि इसकी अनेक पुस्तकें, जो चीनी भाषा में हैं, चीन में भी दुर्लभ क्या अलभ्य ही हैं। पुराने बही-खाते, रोजनामचे और दस्तावेज़ो तक यहाँ मिलीं। इन सबका प्रकाशन धीरे धीरे हो रहा है।

द्रविड़जातीय भारतवासियों की सभ्यता की प्राचीनता

अब तक पुरातत्त्व-विद्या के अधिकांश ज्ञाताओं का ख़्याल था कि भारतवासी हिन्दुओं या आर्य्यों ही की सभ्यता बहुत पुरानी है। उनका यह अनुमान विशेष करके ऋग्वेद पर, अशोक के अभिलेखों पर, और मध्य-एशिया में प्राप्त हुई पुस्तकों तथा अन्य कुछ वस्तुओं पर अवलम्बित था। इस प्रकार वे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचे थे उनका सार यह है—

आज से कोई चार पाँच हज़ार वर्ष पूर्व भारत में कुछ काले चमड़े के असभ्य आदमी रहते थे। उनकी संज्ञा कोल और द्राविड़ थी। वे निरे जंगली थे। न वे पढ़ना लिखना जानते थे और न वे किसी और ही सभ्यता-सूचक कला-कौशल से परिचित थे। वे झोपड़ों में रहते और वन्य पशुओं का आखेट करके उनके मांस से किसी तरह अपना पेट पालते थे। जिस समय भारत के इन आदिम निवासियों की यह दशा थी उसी समय मध्य-एशिया में गोरे चमड़े की एक जाति रहती थी। वह बहुत कुछ सभ्य थी; खेती करना जानती थी; आत्मा

ग्रन्थ मौजूद है उनकी सभ्यता क्या इतनी ही पुरानी है ? तिलक महाराज तो उसे लाखों वर्ष की पुरानी बता गये हैं और इस बात को उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों ही से सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ पुरातत्त्वज्ञों के भाग्य से अभी हाल ही में हरप्पा और मोहन-जोदरो में ज़मीन के भीतर से कुछ बहुत पुरानी चीज़ें निकल आईं। वहां पर कुछ पुराने धुस्स या टीले थे। पुरातत्त्व महकमे के अधिकारियों ने उन्हें खुदाना शुरू किया तो भीतर से मिट्टी के बर्तन, मिट्टी की सीलें (ठप्पे), शंख, धातुओं की अँगूठियाँ आदि निकलीं। इसी तरह की बहुत सी चीज़ें इराके अरब के प्राचीन सुमेर-राज्य और बाबुल के खँडहरों में पहले ही निकल चुकी थीं। इस पर योरप के प्रत्नतत्त्व-कोविदों में हलचल मच गई। उन्होंने कहा, ये सब चीज़ें एक ही सभ्यता की सूचक हैं। अतएव जो लोग किसी समय प्राचीन सुमेर-राज्य और बाबुल में रहते थे उन्हीं के भाई-बन्द भारत में भी रहते थे। उन लेखों को पढ़ कर भारतीय पुरातत्त्व के प्रधान अधिकारी मार्शल साहब ने भी उनकी पुष्टि की। आपने भी यहाँ, इस देश के, अख़बारों में वही बात दुहराई और बड़ा हर्ष प्रकट किया। आपने अपने वक्तव्य में यह लिखा कि भारतीय आर्य्य आज से पाँच हजार वर्ष पहले भी खूब सभ्य हो गये थे। वे महलों में रहते थे। सोने-चाँदी के

सभ्यता का सूचक ऋग्वेद हमारे बहुत बड़े गौरव की गवाही दे रहा है।' जिस समय प्राचीन आर्य्यों के ये दल इधर-उधर बिखर कर जा बसे उस समय आसीरिया मिस्र, बाबुल, इराक़ आदि के निवासी महा असभ्य थे। उनमें आर्य्यों की सभ्यता के सदृश सभ्यता का कहीं नामो-निशान तक न था।

ख़ैर, आर्य्यों का दल जो भारत में आया उसने देखा कि यहाँ कोलों, भीलों, भरों और द्राविड़ों का दौर-दौरा है। अतएव उन्होंने इन लोगों से कहा—चलो, हटो, भागो, हमारे लिए रहने को जगह दो। ये बेचारे असभ्य कोल, भील आदि सभ्य आर्य्यों का मुक़ाबिला न कर सके। कुछ तो लड़ाई-झगड़े में मर मिटे, कुछ जंगलों के भीतर अगम्य जगहों में जाकर रहने लगे, कुछ दक्षिण की तरफ़ ऐसी जगहों को बढ़ गये जहाँ आर्य्यों की पहुँच न थी। जो रह गये उन्हें आर्यों ने अपना दास बनाकर उन्हें शूद्रत्व प्रदान किया।

यह है उन अनुमानों या सिद्धान्तो का सार जो आज तक आर्यों के निवासस्थान, स्थानान्तर-गमन और भारत में आगमन के सम्बन्ध में कुछ समय पूर्व तक निश्चित हुए थे। इन बातों को सुन-सुन कर कितने ही भारतवासी इनकी सचाई में सन्देह करते थे। वे कहते थे कि जिन आर्य्यों का गौरव-चिन्ह ऋग्वेद के सदृश प्राचीन

ग्रन्थ मौजूद है उनकी सभ्यता क्या इतनी ही पुरानी है ? तिलक महाराज तो उसे लाखों वर्ष की पुरानी बता गये हैं और इस बात को उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों ही से सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ पुरातत्त्वज्ञों के भाग्य से अभी हाल ही में हरप्पा और मोहन-जोदरो में ज़मीन के भीतर से कुछ बहुत पुरानी चीज़ें निकल आईं। वहाँ पर कुछ पुराने धुस्स या टीले थे। पुरातत्त्व महकमे के अधिकारियों ने उन्हें खुदाना शुरू किया तो भीतर से मिट्टी के बर्तन, मिट्टी की सीलें (ठप्पे), शंख, धातुओं की अँगूठियाँ आदि निकलीं। इसी तरह की बहुत सी चीज़ें इराके अरब के प्राचीन सुमेर-राज्य और बाबुल के खँडहरों में पहले ही निकल चुकी थीं। इस पर योरप के प्रत्नतत्त्व-कोविदों में हलचल मच गई। उन्होंने कहा, ये सब चीज़े एक ही सभ्यता की सूचक हैं। अतएव जो लोग किसी समय प्राचीन सुमेर-राज्य और बाबुल में रहते थे उन्हीं के भाई-बन्द भारत में भी रहते थे। उन लेखों को पढ़ कर भारतीय पुरातत्त्व के प्रधान अधिकारी मार्शल साहब ने भी उनकी पुष्टि की। आपने भी यहाँ, इस देश के, अख़बारों में वही बात दुहराई और बड़ा हर्ष प्रकट किया। आपने अपने वक्तव्य में यह लिखा कि भारतीय आर्य्य आज से पाँच हजार वर्ष पहले भी खूब सभ्य हो गये थे। वे महलों में रहते थे। सोने-चाँदी के

आभूषण पहनते थे। कला-कौशल में अन्य सभी देशों से बढ़े चढ़े थे। उन्होंने बाबुल, सुमेर-प्रान्त, मिश्र और ग्रीस आदि को सभ्य बनाया था। उस दिन, मदरास में, प्राच्य-विद्या-विशारदों की एक समवेत सभा हुई थी। डाक्टर गङ्गानाथ झा उसके सभापति बने थे। उस सभा के अधिवेशन में मदरास के गवर्नर तक ने हरप्पा और मोहन-जोदरो में पाई गई वस्तुओं के आधार पर भारतीय सभ्यता की प्राचीनता की सीमा बहुत दूर तक बढ़ जाने पर हर्ष-प्रकाशन किया था।

पर हाय, एक महाशय आर्य्यों के वंशजो के इस सारे हर्ष को विषाद में बदल देना चाहते हैं। आपका नाम है—डाक्टर सुनीतिकुमार चैटर्जी, एम०ए०, डाक्टर आफ़ लिटरेचर अर्थात् साहित्याचार्य्य। आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय में अध्यापक है। आपने अँगरेज़ी के माडर्न-रिव्यू नामक मासिक पत्र में एक लम्बा लेख लिखा है। वह ग़ज़ब ढानेवाला है। आप जानते है, उसमें डाक्टर साहब ने क्या लिखा है? उसमें लिखा है यह कि हरप्पा आदि में जो पुरानी वस्तुएँ मिली हैं वे आर्य्यों की नहीं। आदिम आर्य्यों को ऐसी चीज़े बनाने और रखने की तमीज़ ही न थी। वे चीज़ें तो हैं द्राविड़ों की अथवा द्राविड़ों की न सही उन पुराने भारतवासियों की जो आर्य्यों के आगमन के पहले ही यहाँ रहते थे! बाबुल,

सुमेर और इराक़ अरब के भी बहुत पुराने निवासी इन्हीं भारतीय द्राविड़ों के सजातीय थे। किसी समय ये लोग वहाँ, यहाँ और बिलोचिस्तान आदि में, सर्वत्र ही, फैले हुए थे। वे प्राचीन आर्य्यों से भी, बहुत विषयों में, अधिक सभ्य थे। सो इन नये आविष्कारों को देख कर आर्य्यों के वंशजों को गर्व न करना चाहिए। गर्व यदि किसी को करना चाहिए तो कोलों को, भीलों को, सन्थालों को, भरों को। उनको न सही तो दक्षिण प्रान्त-वासी द्राविड़ों को—उन लोगों को जिनकी भाषा तामील, तैलंगी, कनारी या मलयालम आदि है!

अच्छा तो अब कृपा करके सुनीतिकुमार बाबू के उस कोटिक्रम का कुछ आभास लीजिए जिसके आधार पर उन्होंने अपने और अपने पूर्ववर्ती लेखकों के पूर्व-निर्दिष्ट सिद्धान्तों, अनुमानों या कल्पनाओं के समर्थन की चेष्टा की है—

मध्य-एशिया से इधर-उधर बिखरने और भारत में आर्य्यों के आने के विषय में जो कोटि-कल्पनायें अब तक की गई थीं उनका मेल उन बातों से अच्छी तरह नहीं खाता रहा जिनका उल्लेख ऋग्वेद में है। द्राविड़-भाषाओं की बनावट और संस्कृत से उसका भिन्नत्व देख कर कुछ लोगों को यह सन्देह पहले ही हो चला था कि जिनकी ये भाषायें हैं वे शायद ही प्राचीन आर्य्यों के

वंशज हों। एकजातित्व का पता सबसे अधिक भाषाओं से लगता है। द्राविड़-भाषायें संस्कृत से बिलकुल नहीं मिलतीं। अतएव यह बात निर्विवाद नही कि द्राविड़ भी आर्य-वंशोत्पन्न हैं और अपनी सभ्यता के लिए वे भी आर्य्यों की सभ्यता के ऋणी हैं।

इस प्रकार की शङ्काओं की उद्भावना किसी किसी के हृदय में हो ही रही थी कि पादरी (विशप) काल्डवेल ने, १८५६ ईसवी में, द्राविड़-भाषाओं का तुलनामूलक व्याकरण बना कर प्रकाशित किया। उसके प्रकाशन से वे पूर्वोक्त शङ्कायें कुछ और भी दृढ़ हो गईं। पादरी साहब ने द्राविड़-भाषाओं के कुछ शब्दों का इतिहास लिख कर यह साबित किया कि जिनकी ये भाषायें है उनकी निज की सभ्यता बिलकुल अलग रही होगी। उसे उन्होंने आर्य्यों से नहीं ग्रहण किया। उधर दक्षिण में तो यह आविष्कार हुआ, इधर उत्तरी भारत में जब अशोक के अभिलेखों का पता चला और वे पढ़े गये तब यह मालूम हुआ कि अशोक-काल के पहले की कोई इमारतें और कोई चीजे कहीं भी प्राप्य नहीं। अभिप्राय यह कि आज से कोई २२ या २३ सौ वर्ष पहले की आर्य्यसभ्यता के मूर्तिमान चिन्ह अप्राप्य हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि हो न हो, उस समय के पहले के आर्यवंशज भारतवासी कुछ अधिक

सभ्य न थे। अधिक सभ्य होते तो उस समय के पहले की भी इमारतों के ध्वंश पाये जाते, कुछ सिक्के ही मिल जाते, लोहे और ताँबे वग़ैरह के कुछ औज़ार या शस्त्र ही कहीं से निकल आते। सो कुछ नही हुआ। अतएव समझना चाहिए कि भारतीय आर्य्य अब से ढाई तीन हज़ार वर्ष पूर्व योहीं साधारणतः सभ्य थे; उतने नहीं जितने कि वे समझे जाते हैं।

विद्याव्यासङ्ग और शिक्षाप्रचार में ज्यों ज्यों उन्नति होती गई त्यों त्यों लोगों की रुचि भी पुरातत्त्व की खोज की ओर अधिकाधिक झुकती गई। इधर भारत में भी नये नये तत्त्वों का आविष्कार होने लगा, उधर योरप में भी। योरप के प्रत्नतत्त्व-विशारदों ने मिस्र, बाबुल, आसीरिया आदि में खुदाई और खोज का काम झपाटे से जो चलाया तो उनकी आँखें खुल गईं। उन्हें उन देशों में चार चार पाँच पाँच हज़ार वर्षों की पुरानी इमारतों के चिन्ह और उतनी ही पुरानी चीजें मिलने लगीं। इस पर उन्होंने आश्चर्यचकित होकर कहा—अरे, ये देश तो भारत से भी बहुत पुराने हैं। ये तो उससे भी हज़ारों वर्ष पहले ही सभ्य हो चुके थे।

इस तरह के विश्वास या कल्पनायें धीरे धीरे और भी दृढ़ होती गईं। योरपवालों ने अपनी खोज बन्द न की। वे बराबर नई नई बातों और नये नये तत्त्वों का

पता लगाते गये। इस प्रयत्न से काफी सामग्री प्राप्त हो जाने पर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि कोई तीन चार हज़ार वर्ष पहले पश्चिमी रूस, पोलेंड, उत्तरी जर्मनी और मध्ययोरप में एक ऐसी जाति का निवास था जो असभ्य तो थी, पर कुछ कुछ सभ्यता भी उसमें आने लगी थी। वह उन देशों या प्रान्तों के जङ्गली भागों और ऐसी जगहों में रहती थी जहाँ घास खूब होती थी। उस समय जब उनकी यह दशा थी तब मिस्र और इराक़, अरब के निवासी उनसे बहुत अधिक सभ्य हो चुके थे। उन असभ्यों में जो कुछ सभ्यता आ गई थी वह इराक़, अरब और मिस्र के उन लोगों की बदौलत उन तक पहुँची थी जो बनिज-व्यापार के लिए उनके देशों या प्रान्तों में आया-जाया करते थे। उन असभ्यों की भाषा बड़ी सुन्दर थी। जब वे लोग धीरे धीरे पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ कर अन्य देशों या प्रान्तो मे जा बसे तब, कालान्तर में, उनकी उस भाषा ने भी परिवर्तित रूप धारण कर लिये। भारत में वह संस्कृत हो गई, ग्रीस में ग्रीक हो गई, इटली में लैटिन हो गई। उसी तरह ट्यूटन और केल्ट लोगों के निवास देशों में उसने उनकी भाषाओं का रूप धारण कर लिया।

इन कल्पनाओं का आशय यह है कि मिस्र, बाबुल,

आसोरिया आदि के निवासी तो आज से कोई ५ हज़ार वर्ष पहले ही बहुत कुछ सभ्य हो गये थे। पर जो लोग पोलेंड और पश्चिमी रूस में, अथवा उन देशों के आस-पास रहते थे, वे योंहीं कुछ थोड़े से सभ्य थे। वह उतनी भी सभ्यता उन्होंने दूसरों ही की कृपा से पाई थी। हाँ, भाषा उनकी ज़रूर बहुत सुन्दर थी। ये असभ्य या अर्द्धसभ्य मनुष्य और जाति के थे; मिस्र और बाबुल आदि के सुसभ्य और ही जाति के। अब चूँकि यह सिद्ध किया जा रहा है कि पश्चिमी रूस के प्रान्तवर्ती देशों के निवासी ही पीछे से भारत, फ़ारिस और जर्मनी आदि में जाकर बसे; इसलिए वही पुराने आर्य्यों के पूर्वज थे और हम लोग भारतवासी उन्हीं असभ्यों की सन्तति हैं। याद रहे, द्राविड़ लोग किसी और ही जाति के हैं। अतएव आर्य्यों के मुक़ाबले में द्रविड़ों के पूर्वजों को असभ्यता के स्पर्श से बरी समझना चाहिए।

अब आप भारत में क़दम रखनेवाले आर्य्यों के आदिम धर्म्म-विश्वासों और सामाजिक नियमों का मुक़ाबला उनके वंशजों के परवर्ती पूजा-पाठ और धार्म्मिक बातों से कीजिए। पहले ये लोग रहते थे रूस, पोलेंड और जर्मनी वग़ैरह में। वहाँ बर्फ़ पड़ती है और कड़ाके के जाड़े से लोग साल में सात आठ महीने ठिठुरा करते

है। ऐसे लोगों के प्राणों का परित्राण अग्निदेव ही कर सकते हैं। इसी से आदिम आर्य्य अग्नि की ख़ूब उपासना करते थे। तरह तरह के त्योहार मना कर, समय समय पर, यज्ञ-याग आदि के अनुष्ठान से उसे वे सदा ही तृप्त किया करते थे। यहाँ पर एक बात लिखना सुनीति बाबू शायद भूल गये है। वह यह कि शरीर में गरमी पैदा करने—रुधिर में कुछ उष्णता लाने—के लिए नशा पानी भी तो किया जाता है। अतएव सोमरस या सोमसुरा पीकर वे लोग जो ख़ुशियाँ मनाया करते थे वह भी बहुत करके शीताधिक्य के कष्ट को कम करने के लिए। क्यों न—?

अच्छा तो अपनी पुरानी आदतें और पुराने रीति-रवाज लेकर आर्य्य लोग जब भारत में दाख़िल हुए तब उन्होंने यहाँ और ही लोगों को आबाद पाया। उनमें से कुछ लोग, अर्थात् द्राविड़, अनेक विषयों में उनसे भी अधिक सभ्य थे। उनकी सभ्यता और ही तरह की थी। उनकी पूजापाती और अर्चा-उपासना में भी भिन्नता थी। उसका असर आर्य्यों पर पड़ने लगा और कालान्तर में उन्होंने द्राविड़ों के ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी आदि की भी पूजा आरम्भ कर दी। यदि ऐसा नहीं, तो पाठक ही बतावें आर्य्यों ने पूजन आदि की यह नई प्रणाली कहाँ, कैसे और किससे सीखी।

उनके ऋग्वेद में तो इसका कहीं भी पता नहीं। उसमें तो वही सूर्य और चन्द्रमा, अग्नि और वरुण, द्यावापृथिवी और इन्द्र आदि ही के पूजन, प्रशंसन और स्तवन आदि का प्रकार वर्णित है। महाभारत और रामायण आदि के समय जैसी पूजा-अर्चा होने लगी थी वैसी का तो ज़िक्र भी ऋग्वेद में नहीं। हाँ, द्राविड़ लोग इन देवताओं की उपासना बहुत पहले भी करते थे और अब भी करते हैं। अतएव इन्हीं ने आर्य्यों को ये बातें सिखाई होंगी। आर्य तो होम, हवन, अग्निहोत्र, याग, यज्ञ और सत्र को छोड़ कर और कुछ जानते ही न थे। विश्वास न हो तो बताइए "पूज" धातु आर्य्यों के धातु-पाठ में कहाँ से आई। उसकी तत्सम या तद्भव कोई धातु ग्रीक, लैटिन और ट्यूटन भाषाओं में भी नहीं। आर्य्यों के पूजा-शब्द का उद्भव हुआ है, द्राविड़-भाषा के "पू" शब्द से। उसका अर्थ है, फूल। संस्कृत के पुष्कर और पुष्प आदि शब्दों का पूर्व-पुरुष या जनक यही "पू" शब्द है। इसमें यदि आपको फिर भी कुछ शङ्का हो तो कालिन्स साहब की वह पुस्तक देख लीजिए जो उन्होंने द्राविड़-भाषाओं के विषय में लिखी है। इन बातों से यह अच्छी तरह सूचित होता है कि आर्य्यों की सभ्यता के विकास में आर्येतर लोगों ने भी कुछ न कुछ सहायता अवश्य ही की है।

आर्येतर लोग तीन भागों में विभक्त हैं—द्रविड़, कोल या मुण्डा और तिब्बत-चीन के निवासी। इनमें से तीसरे विभाग को छोड़ दीजिए, क्योंकि उनका निवास हिमालय की तराइयों ही में पाया जाता है और आर्यों अथवा हिन्दुओं की सभ्यता का विकास बहुत कुछ हो चुकने पर उनका संसर्ग इन लोगों से हुआ है। कोल-जाति के लोग छोटानागपुर और मध्य-भारत में पाये जाते हैं। परन्तु इस बात के प्रमाण विद्यमान हैं कि किसी समय उनकी भाषा हिमालय के पश्चिमी प्रान्तों से लेकर गुजरात, महाराष्ट्र तक और बङ्गाल की तरफ़ पूर्व में ब्रह्मदेश की सीमा तक बोली जाती थी। अतएव सिद्ध है कि इतिहास-काल के पहले ये लोग भारत मे दूर दूर तक फैले हुए थे। यह भी सम्भव है कि दक्षिणी भारत में भी इन लोगो की बस्तियाँ रही हों। ये लोग चीन की हिन्दुस्तानी सीमा (इण्डोचायना) से बङ्गाल की राह भारत में आये होंगे, क्योंकि उस तरफ़ इन लोगों के सजातियो का आधिक्य अब भी है। अथवा, क्या आश्चर्य जो ये लोग उत्तरी भारतवर्ष ही के आदिम निवासी हों। कुछ भी हो, यहाँ द्रविड़ों के आगमन के पहले ही से ये ज़रूर भारत में विद्यमान थे। सन्थाल लोग इन्हीं कोलो के वंशज हैं। यद्यपि ये लोग अपनी भाषा अब प्रायः भूल गये हैं और आर्यों ही की भाषा

बोलने लगे हैं तथापि शुरू शुरू में इनकी भाषा, इनके रीति-रस्म और इनके रहन-सहन की छाया आर्यों की सभ्यता पर कुछ न कुछ ज़रूर ही पड़ी होगी। परन्तु कितनी पड़ी है, इसकी खोज अभी जारी है। पेरिस के एक प्रत्नतत्त्ववेत्ता ने इस विषय में बहुत कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने इस बात के अखण्डनीय प्रमाण दिये हैं कि संस्कृत-भाषा के कम्बल, शर्करा, कदली, लाङ्गूल, लिङ्ग, लगुड और ताम्बूल आदि शब्दों का उद्भव कोलों ही की भाषा के शब्दों से हुआ है। कोलों की भाषा, उनके शरीर की गठन और उनके आचार-विचार उन लोगों से मिलते-जुलते हैं जो भारतवर्ष के बाहर, पूर्व की तरफ़, अन्य देशों या द्वीपों में पाये जाते हैं— उदाहरणार्थ इण्डोचायना, मलय-प्रायद्वीप, मेलानेशिया और पालीनेशिया में। इससे सूचित होता है कि किसी दूरतम काल में इन सभी देशों और द्वीपों में इस जाति के लोगों का निवास था और भारतीय कोलों के पूर्वज पूर्व ही दिशा से भारत में आये थे।

परन्तु द्रविड़ देश के निवासी एक भिन्न ही जाति के मनुष्य हैं। उनकी भाषा, उनकी शकल-सूरत और उनके कुछ आचार-विचार न आर्यों ही से मेल खाते हैं और न कोलों ही से। तो क्या इन लोगों का सम्बन्ध बहिर्भारत के किसी अन्य देश या अन्य जाति से है? यदि

इसका ठीक ठीक पता लग जाय तो कितनी ही उलझी हुई गाँठें सुलझ जायँ।

द्रविड़ों के उद्भव के विषय में विद्वानों ने अनेक कल्पनायें की हैं। किसी ने उनका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया के असभ्य मनुष्यों से बताया है किसीने मध्य-एशिया की तूरानी जातिवालो से, किसी ने किसी और ही से। बलोचिस्तान में ब्राहुई नाम की एक मनुष्य-जाति रहती है। उसकी भाषा द्रविड़ों की भाषा से मेल खाती है। यदि वे और द्रविड़ लोग किसी समय एक ही जाति के अन्तर्गत रहे हों तो उनका आगमन बलोचिस्तान ही की तरफ से भारत में हुआ होगा। परन्तु वे आये कहाँ से होंगे ? पहले वे रहते कहाँ थे ? इसका क्या उत्तर ?

आर्यों का इतिहास-काल आज से कोई तीन हजार वर्ष पहले से आरम्भ होता है। अर्थात् उस समय से जब आर्य भारत में आ गये थे और यहाँ के आदिम निवासियों को परास्त करके उन्हें उन्होंने छिन्न-भिन्न कर दिया था। वेदो और ब्राह्मणों का अस्तित्व भी तभी से माना जाता है। परन्तु न तो उस समय की किसी इमारत ही का ध्वंसावशेष मिला है और न आर्यों की कोई और ही वस्तु प्राप्त हुई है। आर्यों के भारत में आने के पाँच छः सौ वर्ष बाद तक इनमें से किसी वस्तु का कुछ भी पता नही। तो क्या उनके आगमन के पहले इस देश में सभ्यता

का सर्वथा ही अभाव था ? नहीं, बात ऐसी नहीं । आसाम से लेकर बलोचिस्तान तक और सिन्ध तथा मध्यभारत से लेकर ठेठ दक्षिण तक पत्थर, लोहे और ताँबे के सैकड़ों शस्त्र और औज़ार मिले हैं । मिट्टी के बर्तन, मनके, चूड़ियाँ, शंख और कन्दराओं में खिंचे हुए रङ्गीन चित्र तक प्राप्त हुए हैं । इन आविष्कारों से यह बात सिद्ध होती है कि आर्यों के आगमन के पहले भी यहाँ ऐसे लोग रहते थे जो किसी हद तक सभ्य थे । इसके सिवा एक आविष्कार और भी बड़े महत्त्व का हुआ है और उसे हुए बीस बाईस वर्ष हो गये । दक्षिण के तिनवल्ली ज़िले में एक जगह आदित्तनल्लूर नाम की है । वहाँ एक समाधि-स्थल या क़बरिस्तान मिला है । उसका नाम है—पाण्डुकुली अर्थात् पाण्डवों की समाधि । उसके भीतर ब्रांज नामक धातु के बर्तन, उसी धातु की बनी हुई पशु-मूर्तियाँ, लोहे के शस्त्र, मनुष्यों की पूरी ठठरियाँ, उनके पहनने के लिए रक्खे गये वस्त्र तथा खाद्य पदार्थ तक मिले हैं । ठीक इसी तरह की समाधियाँ क्रीट, साइप्रेस, एशिया माइनर और काकेशस में भी मिली हैं । उन समाधियों के भीतर भी प्रायः वही वस्तुएँ उसी तरह रक्खी हुईं प्राप्त हुई हैं जो आदित्त-नल्लूर में प्राप्त हुई हैं । इससे यह बात निर्भ्रान्त सी मालूम होती है कि जिस जाति के लोगों की क़बरें क्रीट और काकेशस आदि में मिली हैं उसी जाति के लोगों की

क़बरें तिनवल्ली जिले की भी हैं। इस पिछले क़बरिस्तान की ठठरियों की खोपड़ियाँ तामील जाति के मनुष्यों से बिलकुल मिलती हैं। इससे क्या यह नहीं सूचित होता कि आर्यों की सभ्यता की छाप पड़ने के सैकड़ों वर्ष पहले भी द्रविड़-देश में रहनेवाले मनुष्य बहुत कुछ सभ्य थे? वे कपड़े पहनते थे, लोहे और ब्रांज़ के शस्त्रों का व्यवहार करते थे, यहाँ तक कि सुवर्ण-जात आभूषण भी रखते थे। क़बरों में ऐसे छाते भी मिले हैं जिन पर सोने का काम है। गढ़े खोदकर मुर्दे दफ़न करना कुछ आर्य्यों का रवाज थोड़े ही है। वे तो अपने मुर्दे पहले भी जलाते थे और उनके वंशज अब भी जलाते हैं। उन्हें गाड़ना द्राविड़ों की निज की प्रणाली थी और यही प्रणाली इराक़, अरब और एशिया माइनर के कितने ही प्राचीन स्थानों और उनके समीपवर्ती टापुओं में प्रचलित थी। द्राविड़ देश के निवासियों की पुरानी रीति-रस्में तो आर्य्यों से सम्पर्क होने के बहुत समय पीछे बदली हैं। अतएव मान लेना चाहिए कि द्राविड़ लोग आर्य्यों के आगमन के बहुत पहले ही से यहाँ रहते थे और अपनी निज की सभ्यता भी रखते थे। द्राविड़ों के सौभाग्य से, सुनीति-कुमार बाबू की इस कल्पना, अनुमिति या सिद्धान्त के पुष्टीकरण ही के लिए, कुछ और प्रमाण भी अभी हाल ही में मिले हैं।

पञ्जाब के मांटगोमरी ज़िले में एक जगह हरप्पा है और सिन्ध के लरखाना जिले में मोहन-जोदरो। दोनों जगहें बहुत पुरानी हैं। वहाँ ऊंचे ऊँचे टीले या धुस्स हैं, जिनसे सूचित होता है कि किसी समय वहाँ बड़े बड़े शहर रहे होंगे। भारत का पुरातत्व-विभाग ऐसी जगहों की खोज में सदा ही रहता है। हरप्पा में तो बहुत वर्ष पूर्व जनरल कनिंहम ने खुदाई की भी थी और कुछ पुरानी सीलें (मिट्टी के ठप्पे आदि) पाई भी थीं। दो तीन साल हुए, इन जगहों की खुदाई फिर की गई। हरप्पा की खुदाई पण्डित दयाराम साहनी ने की और मोहन-जोदरो की बाबू राखालदास बेनर्जी ने। ये दोनों ही महाशय पुरातत्व-विभाग के अफसर हैं। खोदने से दोनों जगह बहुत पुरानी पुरानी चीजें मिलीं—ठप्पे, मिट्टी के पुराने बर्तन, पत्थर के हथियार, सिक्के, ज़ेवर आदि। मोहन-जोदरो में कबरें भी मिलीं और चार तरह की मिलीं। सबसे नीचे की तह में वैसी ही कबरें मिलीं जैसी तिनवल्ली ज़िले में मिली हैं। उसके ऊपर की तह में बर्तनों के भीतर मृत-मनुष्यों की केवल हड्डियाँ या अस्थि-भस्म मिली। इसके सिवा वहाँ इतिहास काल के पहले के एक आध सिक्के भी प्राप्त हुए। वे ताँबे के टुकड़े के रूप में थे और उन पर कुछ लेख-सा भी खुदा हुआ था, जो पढ़ा नहीं गया। मिट्टी के

ठप्पों पर भी किसी अज्ञात भाषा में कुछ खुदा हुआ देखा गया। ठप्पों की लिपि विचित्र मालूम हुई। प्राचीन लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी से वह बिलकुल ही भिन्न है। उनमें और ठप्पों की लिपि में कुछ भी सादृश्य नहीं। ठप्पों की लिपि में कुछ वर्ण तो चित्र-लिपि के जैसे मालूम होते हैं, पर कुछ और ही तरह के हैं।

इन आविष्कारों को देख कर यह अनुमान किया गया कि पञ्जाब और सिन्ध में किसी दूरवर्ती युग या काल मे कोई ऐसी मनुष्य-जाति ज़रूर रहती थी जिसकी लिपि विचित्र थी। उस जाति के मनुष्य अपने मुर्दों को, एक आसन-विशेष में स्थिर करके, मिट्टी के सन्दूकों के भीतर रख कर, ज़मीन में गाड़ देते थे और सन्दूक के भीतर खाने-पीने का सामान भी रख देते थे। ये रीतियाँ प्राचीन आर्य्यों मे प्रचलित न थीं। अतएव अपने मुर्दे गाड़नेवाले कोई और ही लोग सिन्ध और पञ्जाब में रहते रहे होंगे और वे आर्य्यों के आगमन के पहले ही वहाँ बस गये होंगे।

ये अनुमान अथवा कल्पनायें लेखबद्ध की गईं। पुरातत्त्व-विभाग के प्रधान अफ़सर मार्शल साहब ने उन्हें विलायत के अख़बारो और प्रत्नतत्त्व-विषयक सामयिक पुस्तकों में प्रकाशित कराया। उन्हे पढ़कर फ्रांस, इँगलैंड, जर्मनी और नारवे आदि देशो के प्राचीन-तत्त्वज्ञों में खल-

वली मच गई। उन लोगों ने पता लगाया कि जैसी चीज़े मोहन-जोदरो और हरप्पा में मिली हैं वैसी ही सैकड़ों चीज़ें इराक़े अरब और बाबुल के पुराने खँडहरों और धुस्सों में बहुत पहले ही मिल चुकी हैं। वैसे ही ठप्पे, वैसे ही ज़ेवर, वैसे ही बर्तन और वैसी ही क़ब्रें। ठप्पों की लिपि भी वहाँ वैसी ही है जैसी कि भारत में आविष्कृत ठप्पों पर है। यहाँ और वहाँ प्राप्त हुई चीज़ों के फोटो भी बराबर बराबर छाप कर मुक़ाबला किया गया। उससे यह निश्चय सा हो गया कि दोनों देशों में मिली हुई चीज़ें एक ही सी हैं। उनमें अणु-रेणु का भी अन्तर नहीं।

इस खोज, इस तर्कना, इस विचार-परम्परा से यह निष्कर्ष निकाला गया कि किसी समय जो लोग प्राचीन बाबुल, सुमेर-राज्य और क्रीट तथा साइप्रेस आदि टापुओं में रहते थे वही—उनके वंशज, उनके सजातीय बन्धु वर्ग—भारत के पञ्जाब और सिन्ध प्रान्तों में भी रहते थे।

इसके अनन्तर और अधिक छान-बीन हुई। उससे मालूम हुआ कि आज से पाँच छः हज़ार वर्ष पहले क्रीट के टापू और एशिया माइनर के कुछ प्रान्तों में ऐसे लोग रहते थे जो तरमिलाई, ट्रमिल और डामिल कहलाते थे। सैकड़ों और हज़ारों वर्ष तक वहाँ उनका दौर-दौरा

रहा। वे काफ़ी सभ्य थे। पत्थर और लोहे के शस्त्रास्त्र रखते थे, तरह तरह के आभूषण पहनते थे, ईंट और पत्थर के बने हुए मकानों में रहते थे और अपने मुर्दों को उसी तरह गाड़ते थे जिस तरह मोहन-जोदरो, हरप्पा और तिनवल्ली ज़िलेवाले गाड़ते थे।

इस तुलना और तर्कना का मतलब यह कि भारत के द्राविड़ या द्रविड़ भूमध्य-सागर के टापुओं और उसके तटवर्ती देशों में रहनेवाले प्राचीन तरमिलाई या ड्मिल लोगों ही के वंशज हैं और द्रविड़ शब्द उसी पुराने ड्मिल का अपभ्रंश है।

प्राचीन ड्मिल क्रीट, साइप्रेस, सुमेर-राज्य, बाबुल इत्यादि से पूर्व की ओर फ़ारिस और बलोचिस्तान होते हुए भारत पहुँचे। वहाँ पञ्जाब और सिन्ध में पहले बसे। फिर धीरे धीरे और और प्रान्तों से होते हुए दक्षिणी भारत तक जा पहुँचे। एशिया माइनर से उन्हें बहुत करके भारतीय आर्यों के पूर्वज इंडो-योरोपियनों ने निकाला या खदेड़ कर भारत में ला पटका और उत्तरी भारत से वैदिक आर्यों ने उन्हें दक्षिण भारत को चले जाने के लिए विवश किया। बचे बचाये कुछ लोग बलोचिस्तान में रह गये जो अब तक द्राविड़ों की भाषा से मिलती हुई भाषा बोलते हैं। एशिया-माइनर में तो उन बेचारों के वंशजो का शायद समूल ही नाश हो

गया; पर दक्षिणी भारत में वे अब तक बने हुए हैं और खूब फल-फूल रहे हैं।

द्रविड़ों की भाषा तामील के प्राचीन ग्रन्थों से भी कुछ ऐसी सामग्री ढूँढ़ निकाली गई है जो इस बात को पुष्ट करती है कि द्रविड़ों के पूर्वजों की सभ्यता निराले ही प्रकार की थी। आर्य्यों के आगमन के पहले ही वे सभ्य हो चुके थे। आर्य्यों की सभ्यता की छाप उनकी सभ्यता पर बहुत पीछे पड़ी है। आर्य्यों ने खुद भी उन से कुछ सीखा है। और नहीं तो उनकी भाषा के कुछ शब्द उन्होंने ज़रूर ही लेकर अपनी भाषा की श्रीवृद्धि की है।

योरप और भारत के पुरातत्त्वज्ञों की कल्पनाओं के आधार पर सुनीतिकुमार बाबू ने जो कुछ लिखा है उसका आशय हमने थोड़े में सुना दिया। अब आर्य्यों के वंशज चाहे इसे तिल का ताड़ समझें, चाहे शश-शृङ्गों की अस्तित्व-सिद्धि के लिए पराक्रम-बाहु का प्रचण्ड प्रयत्न। परन्तु अभी क्या, अभी तो इस आविष्कार काण्ड का पहला ही अध्याय सुनने को मिला है। आविष्कृत ठप्पों पर खुदी हुई लिपि में जो लेख हैं वे यदि कभी पढ़ लिये गये तो न मालूम और कितनी अश्रुतपूर्व बातें सुनने को मिलें।

इन प्रत्नतत्त्वज्ञों में हाल नाम के एक विद्वान उलटी

गङ्गा बहाने के भी पक्ष में हैं । उनकी राय है कि एशिया-माइनर या भूमध्य-सागर के तटवर्ती प्रान्तों में सभ्यता का प्रथमावतार नहीं हुआ । वह हुआ द्रविड़ों की बदौलत भारत ही में । भारतीय ही द्रविड़ पश्चिम की ओर बाबुल, सुमेर-प्रान्त, आसीरिया और क्रीट तक गये थे और उन्होंने वहाँ सर्वत्र अपनी सभ्यता फैलाई थी। यदि यही बात ठीक निकले तो भी सभ्यता का साफा आर्य्यों के सिर से उतरा ही समझिए। द्रविड़-जाति चाहे भारत से क्रीट गई हो चाहे क्रीट से भारत आई हो, वह साफा आर्य्यों को नसीब नहीं हो सकता । उनका दुर्भाग्य ! दुर्भाग्य न होता तो आर्य्यों से भी दो ढाई हज़ार वर्ष पहले के पुराने सभ्य द्रविड़ कैसे निकल आते। इन्हीं कल के आर्य्यों को तिलक महाराज मेरु-प्रान्त में रहनेवाले और लाखों वर्ष की पुरानी सभ्यता का सुख लूट चुकनेवाले बता गये हैं !

[मार्च १९२५

मिशमी जाति

स्टेट्स्मैन-नामक समाचार पत्र में मिशमी जाति के विषय में एक लेख, कुछ समय पूर्व, निकला था। उसमें मनोरञ्जन की विशेष सामग्री है। अतएव उसका आशय नीचे प्रकाशित किया जाता है—

पाठक शायद कहेंगे कि यह मिशमी देश कहाँ से कूद पड़ा; इसका तो नाम तक हम लोगों ने नहीं सुना था। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-भाषा-भाषियों में से बहुत कम लोगों ने इस देश या प्रान्त का नाम सुना होगा। अपने प्रान्त से यह है भी बहुत दूर। यह प्रान्त भारत के ठेठ उत्तर-पूर्वी कोने में चीन की सीमा से मिला हुआ है। इसके निवासी अर्द्ध-वन्य हैं और बड़े ही क्रूर-कर्म्मा हैं। कई वर्ष हुए, इन बर्बर मिशमियों ने विलियमसन और डाक्टर ग्रेगसन नाम के दो अँगरेज़-अफ़सरों को जान से मार डाला था। इन लोगों की निवासभूमि आसाम के सदिया-प्रान्त के पास है। चीन की सीमा से मिला हुआ होने के कारण मिशमी-प्रदेश पर चीन की सरकार की नजर पड़ने लगी। यह बात भारतीय गवर्नमेंट को पसन्द न आई। फल यह हुआ

कि उसने अपने अफ़सर भेज कर मिशमियों पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया और अपने एक महकमे के द्वारा वहाँ की भूमि की नाप-जोख तक करा डाली। इसी नाप-जोख और देख-भाल के सम्बन्ध में उसके दो अफ़सर भी मारे गये। पर भारतीय गवर्नमेंट ने मिशमियों को उनकी उद्दण्डता का फल चखा ही कर कल की।

मिशमियों के देश का क्षेत्रफल कोई ३,५०० वर्ग मील है। भू-मापक विभाग (Survey Department) के कर्मचारियों ने वहाँ १५,५०० फुट तक की ऊँचाई तक चढ़ कर काम किया है। बर्फ से ढके हुए पर्वतों पर हफ़्तों डेरे डाल कर वहाँ उन्होंने ज़मीन की पैमायश की है और वहाँ की रत्ती रत्ती ज़मीन को छान डाला है। इस काम मे, वर्षा और जाड़े की अधिकता के कारण, यद्यपि उन्हें बड़े घोर कष्ट सहने पड़े, तथापि उन्होंने अङ्गीकृत काम को समाप्त करके ही पीछे पैर हटाया।

यह देश अरण्यमय है। प्रायः सर्वत्र ही यह घने जङ्गलों से आवृत है। सड़कें यहाँ बहुत ही कम हैं। जो है भी वे वहीं है जहाँ जङ्गल घना नही। मिशमियो के पास एक-मात्र हथियार है दाँव। उसे वे आवश्यक कामों ही के लिए व्यवहार में लाते हैं। वृक्षों को काट-छाँट कर उन्हें कुण्ठित करना मिशमियों को पसन्द नहीं।

अगम्य जगहों में जाने के लिए ये लोग रास्ता नहीं बनाते। इस विषय में ये बिलकुल ही उदासीन हैं। किसी तरह झाड़ियों और कटीले पेड़ों के बीच से ये निकल जायँगे। पर काट-छाँट न करेंगे। मगर ये पुल बनाना ख़ूब जानते हैं। इस देश में एक ऐसा पुल है जो कोई सवा सौ गज़ लम्बा है। न उसमें कहीं कील-काँटा ही लगा है और न कहीं तार आदि ही है। सारा काम बेत और बाँस ही से लिया गया है। सभ्यता के सूचक कील-काँटों का यहाँ पता ही नहीं। उनका प्रवेश ही इस देश में नहीं हुआ। इन लोगों के बनाये हुए पुलों के ऊपर से जानवर नहीं जा सकते। परन्तु बोझ, चाहे कितना ही वज़नी हो, आराम से और बिला किसी ख़तरे के, लोग उस पर से ले जाते हैं।

मिशमियों के देश में बाँस की बड़ी अधिकता है। बेत भी ख़ूब होता है। साग-पात और ओषधियाँ भी वहाँ बहुत पैदा होती हैं। टीटा नाम की एक ओषधि वहाँ होती है। वह बड़े काम आती है। उसका चालान आसाम के सदिया-प्रान्त को बहुत होता है। खनिज पदार्थों का वहाँ अभी तक कहीं पता नहीं।

मिशमी लोग क़द में ठिगने होते हैं। इनकी ऊँचाई पाँच फ़ुट चार इंच से शायद ही कभी अधिक होती होगी। पर वे होते बड़े मज़बूत हैं। बिला थकावट के वे

लोग दूर दूर का सफ़र कर सकते हैं । बोझ वे ख़ूब उठाते हैं । इस काम में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही बड़े कुशल होते है । लकड़पन ही से वे लोग भार-वहन की आदत डालते हैं । स्त्रियों को वहाँ "गंडु' नाम का रोग तो अवश्य होता है, पर और रोगों का वहाँ प्रायः अभाव ही सा समझिए । ये लोग बहुत कम बीमार पड़ते हैं । मिशमी लोग शौचशुद्धता को आचरणीय धर्म्म नहीं समझते । इस विषय में उन्हें और पशुओं को सदृश ही समझना चाहिए । अपने घर को तो ये लोग थोड़ा बहुत साफ़ ज़रूर रखते हैं; पर शरीर की स्वच्छता की ये ज़रा भी परवा नहीं करते । चुनांचे ये कभी नहाते धोते नहीं । इस देश में बारिश ख़ूब होती है । इससे इन लोगों को पानी बरसते समय भी बहुधा बाहर निकलना पड़ता है । इस कारण इनके कपड़ों का मैल, पानी पड़ने से, चाहे भले ही कुछ छूट जाय, पर शरीर को स्वच्छ करने का कष्ट ये कभी न उठावेंगे । इनमें से कुछ लोग तो यहाँ तक समझते हैं कि नहाने से तन्दुरुस्ती ख़राब हो जाती है ।

अफ़ीम का प्रचार अभी तक इस देश में नहीं हुआ । पर बोतल-वासिनी देवी ने अपने पादपद्म यहाँ भी पधरा दिये हैं । अतएव शराबनोशी का रवाज चल पड़ा है । पर अभी उसका आधिक्य नहीं हुआ । हाँ, तम्बाकू पीने का आधिक्य अवश्य है । लड़के-बच्चे तक यहाँ तम्बाकू

पीते हैं। जिसे देखिए वही थैली में तम्बाकू और हाथ में बाँस की एक नली लिये रहता है। छः छः सात सात वर्ष की लड़कियाँ तक, बड़ों बूढ़ों के सामने, घड़ी घड़ी बाद, दम लगाया करती हैं। तम्बाकू पीने की नलियाँ धातु की भी बनती हैं। परन्तु आमतौर पर लकड़ी ही की बनी हुई नलियाँ काम में लाई जाती हैं। वे किसी वृक्ष की जड़ की बनाई जाती हैं।

मिशमी लोग शान्तिप्रिय होते हैं। लड़ना-झगड़ना इन्हें पसन्द नहीं। अपने को ये बहुत रूपवान् समझते हैं। अच्छे कपड़े पहनने के शौक़ीन होते हैं। रुई के सूत से ये लोग अपने कपड़े अपने ही देश में तैयार कर लेते हैं। पर ऊनी कपड़ों के लिए इन्हें तिब्बत का मुख देखना पड़ता है; ये वहीं से आते हैं। कारण यह है कि इनके देश में भेड़-बकरियाँ नहीं होतीं। मनकों की मालायें ये खूब पहनते हैं। इनकी वेशभूषा और सज-धज देखनें लायक़ होती है। दाहने हाथ में भाला, बाँयें कँधे पर दाँव और यदि सौभाग्य से मिल गई तो दाहने कंधे सें तलवार लटका करती है। दाहने कंधे से वह थैली भी लटकती रहती है जिसमें ये लोग पीने की तम्बाकू और खाने की एक आध चीज़ सदा रक्खे रहते हैं। इनकी टोपियाँ बेत की बनती हैं और देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं। उनसे धूप का भी बचाव होता है

और यदि शत्रु तलवार या दाँव का वार करे तो उससे भी रक्षा होती है। बेत की टोपी वारिश में काम नहीं देती। उस मौसिम के लिए ये लोग केले के पत्तों की टोपियाँ बनाते और लगाते हैं। उनके भीतर पानी नहीं प्रवेश करता। वह ढुलक कर बाहर गिर जाता है। ये टोपियाँ ख़ूब चौड़ी होती हैं। घास का बना हुआ एक उपधान भी ये लोग पीठ पर लटकाये रहते हैं। वह केवल वर्षा-ऋतु ही में काम देता है। उसके भीतर पानी नहीं जा सकता। यह उपधान और टोपी, वर्षा में, मोमजामे का काम देती है।

इन लोगों में विवाह-विषयक पूर्वानुराग का रिवाज नहीं। प्रीति-सम्पादन यहाँ कोई जानता ही नहीं। विवाह तो यहाँ एक प्रकार का सौदा समझा जाता है। इन लोगों की अर्थहीनता देखकर यही कहना पड़ता है कि विवाह इनके लिए एक प्रकार का कीमती व्यवसाय है। विशेष प्रकार की एक गाड़ी यहाँ होती है। वह "मिथुन" कहाती है। उसकी क़ीमत कोई २५०) होती है। वैसी चार गाड़ियाँ देने से अच्छी से अच्छी पत्नी मिल सकती है। इतना धन ख़र्च करने से अमीरी ठाट-बाट का विवाह समझा जाता है। पर कभी कभी सुअर के दो बच्चे ही देने से पत्नी मिल जाती है। मिशमी देश में सुअर के एक बच्चे की क़ीमत अन्दाज़न १५)

समझी जाती है। यहाँ गुलामी की प्रथा भी जारी है।

जो दास या गुलाम जी लगाकर मालिक का काम करता है और खेती-बारी में उसकी यथेष्ट मदद करता है उसके साथ मिशमी लोग बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं। उसे वे बड़े आराम से रखते हैं।

मिशमी लोगों के समुदाय में धर्म्म और मत-मतांतरों का नाम तक नहीं। ये इन बातों का ज्ञान बिलकुल ही नहीं रखते। परन्तु संसार के अन्यान्य अनार्य्यों की तरह ये लोग भी भूत-प्रेतों में विश्वास रखते हैं। भूत-प्रेतों को ये सदा ही मिन्नत-आरज़ू करते और उन्हें मनाते-पथाते रहते हैं। परन्तु इनके मनाने के कोई कोई ढङ्ग बड़े ही अजीब क्या भीषण तक होते हैं। यथा—मृत-पति की आत्मा को शान्ति देने या उसे सुखी करने के लिए कभी कभी ये लोग उसकी विधवा पत्नी को ज़मीन में ज़िन्दा ही गाड़ देते हैं। पर ऐसे भीषण काण्ड बहुत ही विरल होते हैं। यह क्रूर क्रिया तभी होती है जब मिशमी लोग देखते हैं कि विधवा स्त्री बूढ़ी हो गई है अथवा वह बाँझ है। अतएव वह समाज के लिए भार-भूत हो रही है। ऐसे बोझ को ज़मीन में गाड़कर अपने आपको हलका कर लेना बुरा नहीं समझा जाता।

मिशमी लोगों के देश में काहिलों और बूढ़ों के रहने की गुंजायश नहीं। खूब काम करनेवाले चुस्त और

चालाक आदमियों ही की गुज़र-बसर वहाँ हो सकती है, बेकार बैठनेवालों की नहीं। एक गाँव में एक बूढ़ा आदमी था। वह कमाता-धमाता न था। अपनी गुज़र-बसर वह आप अपने बूते न कर सकता था। वह दूसरों के लिए भारभूत था। दैवयोग से उसी गाँव में एक रात को दो बच्चे मर गये। बस वहाँ वालों को मनचीता मौक़ा मिल गया। झट बूढ़े पर यह इल्ज़ाम लगाया गया कि इसी ने टोना-टम्बर या जादू करके बच्चों की जान ले ली है। कुछ लोग उठे और चुपचाप उस बूढ़े को पास की पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी पर ले गये। इस घटना के बाद फिर उस बेचारे का कुछ भी पता न चला कि वह कहाँ गया। उसकी क्या दशा हुई, यह बताने की ज़रूरत नहीं। वह तो स्पष्ट ही है।

यदि कोई अन्य देशवासी इन लोगों का फ़ोटो लेना चाहता है तो ये लोग केमरा को भूत समझ कर मारे डर के काँपने लगते हैं। बस केमरा निकला कि मिशमी हिरन होगया।

मिशमी लोग अच्छे शिकारी होते हैं। इनका सबसे प्रधान शस्त्रास्त्र धनुर्बाण है। पुराने ज़माने की तोड़ेदार (Muzzle loading) बन्दूकें भी कहीं कहीं किसी किसी के पास पाई जाती हैं। परन्तु वे सिर्फ शोभा के लिए हैं। शिकार का काम उनसे नहीं लिया जाता। बड़े शिकार के

लिए ये लोग विषाक्त बाण और छोटे के लिए बाँस के त्रिशूलमुखी बाण और दाँव काम में लाते हैं। कुत्तों की सहायता से भी ये लोग शिकार खेलते हैं।

खेती-बारी के काम में मिशमी लोग निपुण नहीं। जोतने बोने के लिए जितनी ज़मीन दरकार होती है उतनी पर उगा हुआ जङ्गल काट डाला जाता है। सूखने पर कटे हुए पेड़ों और झाड़ियों में आग लगा दी जाती है। बस खेती के लिए खेत तैयार हो जाता है। उसी में जो कुछ इन्हें बोना होता है बो देते हैं।

खाने-पीने अर्थात् भक्ष्याभक्ष का ज़रा भी विचार इन लोगों में नहीं। मेढ़क, चूहे, साँप, छिपकली इत्यादि सभी जीव-जन्तु इनकी ख़ूराक है।

बनिज-व्यापार का नामो-निशान तक मिशमियों के देश में नहीं। इन लोगो की आवश्यकतायें बहुत ही कम हैं। अपने ही देश की उपज से इनका काम निकल जाता है। हाँ, तिब्बती आदमियों के साथ कभी कभी कुछ यों-ही सा लेन-देन ये लोग कर लेते हैं। सोने को यहाँ कोई नहीं जानता। पर रुपये को सब लोग पहचानते हैं।

[नवम्बर १९२६

कालेपानी के आदिम असभ्य

भारत के अधिकांश मनुष्य अन्दमन-द्वीप का नाम सुनकर यह नहीं बता सकते कि वह कहाँ है। पर काले पानी के नाम से वे प्रायः सभी परिचित हैं। गहरे समुद्र का जल कालिमा लिये होता है। इसी से शायद इस द्वीप-पुञ्ज को यहाँवाले कालापानी कहते हैं। इसकी अधिक प्रसिद्धि का कारण यह है कि सख़्त और लम्बी सज़ा पाये हुए भारतीय मुजरिम या क़ैदी समुद्र-पार इसी द्वीप को भेजे जाते रहे हैं। वहीं के जेलों में वे बन्द किये जाते थे। और अब भी वे हज़ारों की संख्या में वहाँ क़ैद हैं। अब कुछ समय से वहाँ क़ैदियों का जाना बन्द कर दिया गया है। वहाँ के बहुत से क़ैदी भारत को लौटा भी दिये गये हैं। तथापि अब तक वहाँ बहुत से क़ैदी हैं। उनमें से कुछ तो वहीं बस भी गये हैं। दक्षिण के बहुत से मोपले उस साल बाग़ी हो गये थे। उनमें से भी बहुत से मोपले, सज़ा पाने पर, वहीं भेजे गये हैं। अब तो उनकी स्त्रियाँ और बच्चे भी वहीं भेजे जा रहे हैं। ये सब लोग वहीं अलग अलग गाँवों में बस कर मिहनत-मज़दूरी और काश्तकारी करेंगे। ये वहाँ बहुत कुछ स्वच्छन्द रहेंगे,

पर सीमा के बाहर न जाने पावेंगे। कहने की ज़रूरत नहीं, अन्दमन-द्वीप में अँगरेजी राज्य है। वहाँ एक चीफ़-कमिश्नर रहता है। वही वहाँ का सर्व्वोच्च अधिकारी है। सरकार अब इस द्वीप की आबादी बढ़ाकर खेती-किसानी वग़ैरह के पेशे की वृद्धि करना चाहती है। ये द्वीप-समूह बङ्गाले की खाड़ी के दक्षिणी भाग में अवस्थित है। वहाँ का प्रधान नगर पोर्ट-ब्लेयर है। वही वहाँ की राजधानी है।

अन्दमन या अन्दमान द्वीप-समूह में पृथ्वी के बहुत ही प्राचीन निवासियों की जाति के कुछ लोग रहते हैं। यह जाति लाखों वर्ष की पुरानी है। ये अन्दमनी कहलाते हैं। ये नेग्रिटो अर्थात् छोटी हबशी जाति के अवशिष्ट मनुष्य हैं विद्वानों का ख़याल है कि बहुत प्राचीन काल में, भूतल के अधिकांश भाग में, इसी जाति के मनुष्यों का निवास था। फ़िलीपाइन नाम के द्वीपों में रहनेवाली ऐटा और मलय-प्रायद्वीप में रहनेवाली सैमांग नामक जाति के लोग अन्दमनियों से बहुत कुछ मिलते-जुलते है। दक्षिण-भारत की कोलार नामक जाति के लोगों में भी नेग्रिटो जाति का कुछ रक्त-सम्बन्ध पाया जाता है। टारेस-मुहाने के पश्चिमी द्वीपो में भी अन्दमन-द्वीप के आदिम निवासियों की तरह के आचार-व्यवहार देखने में आते हैं। सम्भव है, काँगो और तस्मानिया के निवासी

भी इन्हीं के वंशज हों। किन्तु विशुद्ध नेग्रिटो जाति अब केवल अन्दमन-द्वीपो ही में रह गई है। हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी, अब भी, अन्दमनियों में उनके पुराने आचार-व्यवहार वैसे ही पाये जाते हैं। दूसरे देशों और द्वीपो में या तो इन लोगों के वंश का सर्वथा ही नाश हो चुका है या दूसरी जाति के लोगों में इनके मिल जाने से, नीर-क्षीर-वत् इनका अब पता ही नहीं चलता। जान पड़ता है, किसी दैविक दुर्घटना के कारण, समुद्र के नीचे पृथ्वी का बहुत-सा भाग डूब गया। पर इनका निवास-स्थान बच गया। इससे इस जाति के लोग जो अन्य स्थानों मे रहते थे वे नष्ट हो गये। पर ये लोग बच गये। किसी समय एशिया, आस्ट्रेलिया आदि देश और द्वीपपुञ्ज सब आपस में संलग्न थे। बीच बीच में पृथ्वी के डूब जाने से इन सबकी स्थिति की वह दशा हुई जिसमें ये आज-कल देखे जाते हैं।

अन्दमन के आदिम असभ्य मनुष्य खर्वाकृति—बहुत ठिगने—होते हैं। उन्हे देख कर विदेशियों के मन में कौतूहल उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ऊँचाई में ये लोग ४ फुट १० इञ्च से अधिक नहीं होते। स्त्रियों की ऊँचाई पुरुषों से भी तोन चार इञ्च कम होती है। तथापि इनका शरीर गँठा हुआ और हृष्ट-पुष्ट होता है।

अन्दमनियों का रङ्ग कोयले के सदृश काला, बाल

घूँघरवाले और मुख कान्तिमान होता है। पर उन्हें रूप-वान् नहीं कह सकते। क्योंकि उनकी नाक चौड़ी और चिपटी, होंठ काले और आँखें उभड़ी हुई होती हैं। भौंहों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए वे उन्हें मुँड़ा डालते हैं। पर फल इसका उलटा ही होता है। ये लोग प्रसन्न-चित्त, स्वाधीनता के प्रेमी और शिकार के शौक़ीन होते हैं। अपनी सन्तान के साथ ये बड़े प्रेम और बड़ी दया का व्यवहार करते हैं। ये बड़े ही सन्तानवत्सल होते हैं। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि इनमें कृतघ्नता, धोखे-बाज़ी और निर्दयता के भी भाव, कभी कभी, कारणवश, उद्दीप्त हो उठते हैं। अपरिचित आदमियों के साथ इनका व्यवहार अच्छा नहीं होता। ये उन्हें अपना शत्रु समझते हैं और देखते ही उन्हें मार डालने की चेष्टा करते हैं। बहुत पुराने ज़माने में यदि कोई जहाज़ इन द्वीपों के किनारे नष्ट हो जाता था तो जहाज़वालों का पता न चलता था कि वे कहाँ गये और उनका क्या हुआ। अनुमान यह है कि जहाज़ों के अपरिचित आदमियों को अन्दमनी लोग मार डालते थे। इसी से, इस तरह की घटनाओं के बाद, और जहाज़वाले इन द्वीपों के पास से निकलते ही न थे। वे लोग इन्हें दूर ही से प्रणाम करके निकल जाते थे। कुछ लोगों का ख़याल है कि प्राचीन काल के मलयद्वीपवासी जलचोर इन द्वीपों के निवासियों

को जबरदस्ती पकड़ ले जाते और उन्हे गुलाम बनाते या बेच डालते थे। इसी से यहाँ वाले अपरिचित जनों के दुश्मन हो गये हैं। परन्तु ये अनुमान कुछ ठीक नही जँचते क्योंकि अन्दमनी मनुष्य अपनी जाति के भी अपरिचित आदमियो के साथ बुरा बर्ताव करते हैं। अपरिचितों से वैर-भाव रखना इनका स्वभाव ही सा हो गया है।

अन्दमन-द्वीप के मूल-निवासी भिन्न भिन्न समुदायो में बँटे हुए हैं। एक समुदाय के लोग दूसरे समुदाय-वालो से बहुत ही कम मिलते-जुलते हैं। यदि कही, दैवयोग से, इन लोगों मे मुठभेड़ हो जाती है तो ये लड़े बिना नही रहते। ये लोग एक ही भाषा से उत्पन्न हुई कई तरह की बोलियाँ बोलते हैं। एक समुदाय के मनुष्य दूसरे समुदाय के मनुष्यों की बोली अच्छी तरह नहीं समझ सकते। इसका कारण परस्पर मिल-जुल कर न रहने के सिवा और कुछ नहीं जान पड़ता।

सभ्य संसार के मनुष्य अन्दमनियो को बहुत समय से जानते हैं। परन्तु इनके विषय में, कुछ समय पहले तक, हम लोगों का ज्ञान भ्रमात्मक था। सन् १२९० ईसवी में प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो इन द्वीपों के पास से गुज़रा था। उसने लिखा है कि इन लोगों का सिर मस्तिफ़ कुत्ते के समान बड़ा और पैर बहुत लम्बे होते

हैं। पर यह बात ग़लत है। शेक्सपियर के ओथेलो नामक नाटक में ओथेलो ने डेसडेमोना से इन लोगों का जो वर्णन किया है उसमें लिखा है कि ये लोग मनुष्याहारी हैं। परन्तु यह भी मिथ्या है। बात यह है कि अज्ञात या अल्पज्ञात जातियों के विषय में उस समय लोगों को बहुत कम ज्ञान था। वे उनके विषय में इसी तरह की विचित्र विचित्र बातों को कल्पना कर लिया करते थे। इनमें तथ्य का अंश शायद ही कुछ हो। लोगों ने तो यहाँ तक कल्पना कर ली थी कि अन्दमनी लोग मनुष्यों को मार ही नहीं डालते; उन्हें भून कर खा भी जाते हैं। एक बात अवश्य सच है। वह यह है कि ये लोग अपने कुटुम्बियों की खोपड़ियों तथा अन्य अङ्गों की हड्डियों को आभूषण के तौर पर पहनते हैं। यह प्रथा इनमें अब तक जारी है। अतएव, सम्भव है, इनकी ऐसी ही ऐसी प्रथायें देखकर प्राचीन काल के सभ्य मनुष्यों ने यह समझ लिया हो कि ये नर-मांसभोजी हैं।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, यह खर्वाकार कृष्ण-वर्ण की मनुष्य-जाति बहुत पुरानी है। इसकी उत्पत्ति हुए हज़ारों, नहीं लाखों वर्ष हो चुके होंगे। इनकी भाषा का ठौर ठिकाना नहीं। किसी भी लिपि से ये लोग परिचित नहीं। न ये खेती करना जानते हैं और न

कपड़े बुनना या सीना ही जानते हैं। धातुओं का उपयोग भी इन्हें ज्ञात नहीं। ये लोग रगड़ कर या और किसी तरह आग पैदा करना भी नहीं जानते। दुनिया की असभ्य से भी असभ्य अन्य जातियाँ आग उत्पन्न कर सकती हैं और उसे अपने काम में लाती हैं। पर अन्दमनी लोग आग बनाने के साधनों से नितान्त ही अनभिज्ञ हैं। इसी से जब ये लोग एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तब अधजली लकड़ी अपने अपने साथ ले जाते हैं। उसी से वे वहाँ जाकर अग्नि जागृत रखते हैं। ये लोग मुश्किल से दो तक गिनना जानते हैं। इनमें से विरले ही ऐसे होंगे जो पाँच तक गिनना जानते होंगे। इनकी भाषा में पाँच सबसे बड़ी संख्या समझी जाती है।

अन्दमन द्वीप के मूल-निवासी भी आखिर को मनुष्य ही हैं। सभ्यों के बीच रहने से वे अनेक सभ्यतानुमोदित काम कर सकते हैं। चेष्टा करने से वे पढ़-लिख भी सकते हैं। पोर्ट-ब्लेयर में जो गवर्नमेन्ट-हौस है उसमें एक अन्दमनी लैम्प (बत्ती) जलाने के काम पर नौकर है। ये लैम्प बिजली के हैं। वह आदमी इस काम को बहुत अच्छी तरह कर सकता है। यह बात कुछ समय पूर्व की है। मालूम-नहीं, वह अब भी इस काम पर है या नहीं। और लोगों की तरह इस अन्दमनी

को भी आराम से रहना बहुत पसन्द है। परन्तु सबसे अधिक सुख और आनन्द उसे तब मिलता है जब वह डोंगी पर सवार होकर समुद्र में मछली मारने जाता है अथवा जब वह अपने सजातियों के साथ जातीय नाच में शामिल होता है।

अन्दमनी लोग सभ्य मनुष्यों की बस्ती से दूर भागते हैं। वे वहाँ अपने मन से कभी नहीं जाते। बहुत मनाने फुसलाने से कभी कभी कोई वहाँ चला जाता है। उसे एक लँगोटी पहना कर बस्ती में लाना पड़ता है। अपने जङ्गली निवास-स्थलों में ये लोग स्वच्छन्दतापूर्वक नङ्गे विचरा करते हैं। स्त्रियाँ अलबत्ते पत्तों का आवरण धारण करती हैं। कपड़े से उन्हें काम नहीं। बेचारी सीना भी नहीं जानतीं। एक बड़े से पत्ते ही से वे अपनी लज्जा का निवारण कर लेती हैं। इनकी कमर में छाल की एक रस्सी सी बँधी रहती है। उसी के सहारे ये पत्ते को बाँध या लटका लेती हैं। इस तरह के पत्ते इन्हें सहज ही मिल जाते हैं। न उनके दाम देने पड़ते और न उन्हें सिलाने के लिए किसी दर्ज़ी ही का मुँह ताकना पड़ता है। अन्दमनी स्त्रियाँ छाल का एक और भी आवरण रखती हैं। उसे वे कमर के दाहने बाँयें, अपने कमरबन्द में बाँधकर लटकाये रहती हैं। इसे वे सिर्फ शोभा के लिए, केवल उत्सवों या त्योहारों के अवसर पर, धारण करती हैं।

अन्दमनी स्त्री और पुरुष दोनों ही एक प्रकार का विलक्षण गोदना गुदवाते हैं। शङ्ख या सीप आदि के तेज़ टुकड़ों से ये अपने हाथ, पैर या शरीर के और अङ्गों से मांस के छोटे छोटे टुकड़े काट कर फेक देते हैं। ये टुकड़े एक ही सीध में, थोड़ी थोड़ी दूर पर, काटे जाते हैं। कभी कभी कुछ विशेष आकार के भी मांस-खण्ड काट लिये जाते हैं। ऐसा करने से काटी हुई जगह में घाव हो जाते हैं। घाव अच्छे हो जाने पर उन जगहों का चमड़ा चिकना और मुलायम हो जाता है। उनके रङ्ग में भी कुछ विशेषता आ जाती है। बस, इसी को वे शोभावर्द्धक समझते हैं। यही उनका गोदना है। घावों की जगह ये लोग रंग वग़ैरह कुछ नहीं भरते। रंगों का ज्ञान ही इन्हें नहीं। वे इनके लिए अप्राप्य भी हैं।

ये लोग बड़े कुशल शिकारी हैं। शिकार ही से ये अपना जीवन-निवाह करते हैं। जंगली सूअरों को ये लोग तीर या भाले से मारते हैं। नदियों के मुहानों में ये टरटल नामक मछली का भी शिकार करते हैं। परन्तु कैसे? तीर कमान से! डोंगी पर ये सवार होते हैं। उस के अगले भाग पर, कमान पर तीर चढ़ाकर और अपने शरीर को समतुलावस्था में रखकर, ये निस्तब्ध खड़े रहते हैं। बस, जहाँ पानी के भीतर कहीं मछली की झलक इन्हें देख पड़ी, तहाँ तत्काल ही इनके कमान

से तीर छूटता और मछली को छेद देता है। मछली के तीर लगते ही ये झट पानी में कूद पड़ते हैं और तीर सहित मछली को पकड़ लाते हैं। ये लोग बड़े ही अच्छे निशानेबाज़ हैं। शायद ही कभी किसी अन्दमनी का निशाना चूकता होगा। ये लोग तैरने में भी बड़े दक्ष होते हैं। मीलों तैरते चले जाते हैं; कभी थकते ही नहीं।

अन्दमन के मूल-निवासी अधिकांश मांसाशी हैं। सुअर के मांस को तो ये रसगुल्ला ही समझते हैं। इन का सबसे अधिक भोज्य पदार्थ मछली है। वह इनके लिए सुप्राप्य भी है। कीड़े, मकोड़े और छिपकली आदि को भी ये खा जाते हैं। बेर तथा कुछ अन्य जंगली फल और शहद भी इनका खाद्य है। खाने की चीज़ों को ये खूब उबालते हैं और गरमागरम ही उड़ा जाते हैं।

अन्दमनी लोगों के पास शस्त्रों की मद में केवल तीर-कमान और भाला ही रहता है। और शस्त्र उन्हें प्राप्य नहीं। चाकू के बदले सीपियों और शंखों के धार-दार टुकड़े-मात्र होते हैं। उन्हीं से वे काटने और छीलने का काम लेते हैं। पहले तो वे तीरों के फल की जगह केवल एक नोकदार पैनी लकड़ी ही लगाते थे। पर अब वे लोहे के फल काम में लाने लगे हैं। वह लोहा या लोहे के फल उन्हें भारत के उन लोगों से प्राप्त होते हैं

जो अन्दमन में बस गये हैं। लोगों को पहले ख़याल था कि अन्दमनी असभ्य अपने तीरों को विष में बुझाते हैं। पर यह बात अब मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। हाँ, इनके तीरों के घाव विषाक्त ज़रूर हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि जानवरों को मारने के बाद उनके मृत-शरीर से निकाले हुए तीरों को ये लोग धोते नहीं। वही यदि मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तो घाव को विषाक्त कर देते हैं। इसी से वह जल्दी अच्छा नहीं होता।

अन्दमनियों की कुछ रीतियाँ बड़ी ही विचित्र हैं। बहुत दिनों के बाद जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तब देर तक ज़ोर ज़ोर से चिल्लाते और आँसू बहाते हैं। यही उनके हर्ष-प्रकाशन की रीति है। उनको ऐसा करते यदि कोई विदेशी देखे तो उसे यही भासित हो कि इन लोगों पर कोई बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है। जब दो आदमी एक दूसरे से बिदा होते हैं तब वे परस्पर हाथ फूँकते और अपनी भाषा में कहते हैं कि ईश्वर करे तुम्हे कभी साँप न काटे। इनकी वैवाहिक पद्धति भी बड़ी ही विचित्र है। जब इन लोगों की जाति के वृद्ध पुरुषों को मालूम होजाता है कि कोई युवा और युवती विवाह करना चाहते हैं तब वे एक नई झोपड़ी बनवा कर उसमें वधू को बिठा देते हैं। फिर कुछ आदमी वर की खोज में बाहर निकलते हैं। उसके मिल जाने पर

वे लोग उससे पूछ पाछ करते हैं। तब वह बहुत लज्जा और सङ्कोच प्रकट करता है और विवाह करने की अनिच्छा प्रकट करता है। वह जंगल को भाग जाता है। वहाँ से उसके मित्र उसे ज़बरदस्ती पकड़ लाते हैं। और वधू की झोंपड़ी के भीतर ले जाकर उसकी गोद में वर को बिठा देते हैं। यह करके उस जोड़ी को वे उसी झोपड़ी में छोड़ देते है। बस, विवाह-बन्धन पूर्णता को पहुँच जाता है।

ये लोग नाचते ख़ूब हैं। पर स्त्रियों को नाचने की आज्ञा नहीं। केवल पुरुष ही नृत्योत्सव में शरीक होते हैं। ये लोग हाथ नचा नचा कर कूदते हुए चक्कर काटते हैं। यही इनका नाच है। नृत्य के समय इनकी स्त्रियाँ पंक्ति बाँध कर वहीं बैठ जाती हैं और अपनी रानों पर हाथ पटक पटक कर ताल देती रहती हैं। इनके नाच में एक नेता या सूत्रधार होता है। वह, बीच बीच में, अपने पैर की ऐंड़ी से, लकड़ी के एक ढोलक पर, टङ्कार-शब्द करता जाता है। वह बीच में रहता है। नर्तक उसी के चारों ओर नाचते हुए चक्कर काटते हैं। नाचते समय ये लोग मुँह से नाना प्रकार के चित्र-विचित्र शब्द करते रहते हैं। उसी को यदि आप इनका गायन कहना चाहें तो कह सकते हैं।

अन्दमनियों के धर्म्म का कुछ भी ठौर-ठिकाना

नहीं। न तो वे किसी प्रकार की पूजा-अर्चा या प्रार्थना ही करते हैं और न बलिदान ही देते हैं। पर ये किसी को ईश्वर ज़रूर मानते हैं। इनका ख़याल है कि दण्ड देने के लिए वही आँधी चलाता है। समुद्र, वन, नदी आदि को भी ये एक प्रकार के देवता समझते हैं। उन सबको अधिष्ठात्री आत्माओं में ये देवत्व की कल्पना करते हैं; परन्तु उनकी पूजा-अर्चा ये नहीं करते। पानी में अपनी परछाईं देखकर ये समझते हैं कि इन्हें अपनी आत्मा दिखाई दे रही है। इनका विश्वास है कि मरने के बाद इनकी आत्मायें किसी अज्ञात जगह में वास करती हैं। परन्तु इनको भावी दण्ड या फल-प्राप्ति का विचार कभी सताता या आनन्दित नहीं करता। इन लोगों में जितने क़िस्से या कहानियाँ प्रचलित हैं वे सब बहुत पुरानी जान पड़ती हैं। उनसे सूचित होता है कि इनका देश किसी समय समुद्र-गर्भ में निमग्न था। सम्भव है, जैसा कि एक जगह ऊपर लिखा जा चुका है, किसी अज्ञात काल में इनका देश एशिया-महाद्वीप से जुड़ा रहा हो और पीछे से समुद्र में डूब गया हो। इनकी कल्पना है कि आग पहले-पहल आकाश से प्राप्त हुई थी। कह नहीं सकते, पर शायद इनकी कहानियाँ किसी ज्वालामुखी पर्वत के स्फोट या बिजली गिरने से सम्बन्ध रखती हों।

अन्दमनियों की जाति एक ऐसी जाति मालूम होती

है जिसकी उत्पत्ति का पता न तो किसी इतिहास ही से मिलता है और न कथा-कहानियों ही से, अनुमान किया जा सकता है। इनकी प्राचीनता के मुक़ाबले में ईजिप्ट-वालों की प्राचीनता अभी कल की जान पड़ती है। अँगरेज़ी गवर्नमेन्ट इस जाति को जीवित रखने की बहुत चेष्टा कर रही है। पर उनके प्रयत्न सफल होते नहीं देख पड़ते। क्यों कि इनकी संख्या दिन पर दिन घटती ही चली जा रही है। इस समय इस जाति के मनुष्यों की संख्या दो हज़ार से भी कम ही रह गई है। इन लोगों को बड़ी ही विचित्र बीमारियाँ हो जाती हैं। वे दवा-पानी से नहीं अच्छी होतीं। इनमें कुछ ऐसी विशेषता है कि इनके सन्तति कम होती है। बिरले ही घरों में बाल-बच्चे दिखाई देते हैं। इनके ह्रास का सबसे बड़ा कारण यही है। डर है कि सौ दो सौ वर्ष में इस परम प्राचीन नेग्रिटो-जाति का कहीं अन्त ही न हो जाय।

[दिसम्बर १९२६

मैडेगास्कर-द्वीप के मूल-निवासी

संसार मे सैकड़ों जङ्गली जातियाँ वास करती हैं। ऐसा एक भी महादेश, देश या द्वीप न होगा जहाँ कुछ न कुछ जंगली और असभ्य आदमी न रहते हो। हमारे देश में भी ऐसी जातियों की कमी नहीं। आज भारतवर्ष के बाहर की एक जंगली जाति का हाल पाठकों को सुनाते हैं।

आफ़रीक़ा के दक्षिण-पूर्व मे मैडेगास्कर नाम का एक द्वीप है। यह द्वीप बहुत बड़ा है। इसकी चौड़ाई कोई एक सौ मील और लम्बाई तीन सौ मील होगी। यह टापू चारो तरफ घने जंगलो से घिरा हुआ है। इसलिए इसमें हिंस्र-जन्तुओं की कमी नहीं। इसके सिवा कोई चालीस पचास प्रकार के बन्दर भी इस टापू में आनन्द से विहार किया करते हैं। प्रकार से यहाँ मतलब जाति से है। सो एक एक जाति के बन्दरों ही की संख्या लाखो होगी। सब जातियों के बन्दरों की संख्या यदि गिनने को मिले तो शायद वह करोड़ों तक पहुँचे। बन्दरों को इन जातियों में एक जाति लेमर्स नाम के बन्दरों की है। इस जाति के बन्दर बड़े ही भयानक होते हैं। वे वहाँ बड़ी कसरत से पाये जाते हैं।

मैडेगास्कर में अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं। उनमें हबशी, अरब और सकालवा मुख्य हैं। ये पिछले, अर्थात् सकालवा जाति ही के लोग, इस टापू के मूल-निवासी हैं। ये लोग मैडेगास्कर टापू के पश्चिमी समुद्र-तट पर अधिक रहते हैं। ये हबशियों ही के सदृश काले होते हैं। इनकी शरीर-कान्ति सुपक्व जम्बूफल के रंग को भी मात करती है। ये लोग सुदृढ़ और बलवान् भी ख़ूब होते हैं। होना ही चाहिए। निर्बलता और कोमलता तो सभ्यता ही की सगी बहनें हैं। सभ्यता महारानी के सुराज्य ही में उन्हें आश्रय मिल सकता है, अन्यत्र नहीं। सकालवा जाति के मनुष्यों के बाल लम्बे और घुँघराले होते हैं। आँखें बड़ी—आकर्णतटायत—और गहरी होती है। नथुने भी ख़ूब लम्बे-चौड़े होते हैं।

समुद्र के किनारे रहनेवाले सकालवा लोग धीवर अर्थात् मछुओं का काम करते हैं। यही उनका मुख्य व्यवसाय है। मछली खाना उन्हें पसन्द भी बहुत है। जो लोग समुद्र से दूर रहते हैं और खेती करते हैं वे भी अपने सजातीय मछुओं से मछली मोल लिये बिना नहीं रहते। पर बदले में कोई सिक्का न देकर अपनी खेती की उपज, धान या चावल, आदि ही देते हैं। नमक भी वे इसी तरह स्वयं उत्पादित धान्य से बदल कर अपना काम निकालते हैं। शराबख़ोरी, चोरी और लड़ना-

भिड़ना इनकी आदत में दाख़िल है। प्रत्येक सकालवा अपने पडोसी से भी सदा डरता रहता है। वह समझता है, कहीं ऐसा न हो जो धन के लोभ से वह उसे मार डाले या ग़ुलाम बनाकर बेच ले। इस जाति में कहीं कहीं मनुष्यों के ख़रीद-फ़रोख़्त की प्रथा अब तक जारी है।

मैडेगास्कर के इन मूल-निवासियो में एक बड़े ही अद्भुत ढँग का रणनृत्य होता है। जब ये आक्रमण, युद्ध, हर्ष-प्रकाशन आदि का आदेश अपने सहयोगियों या साथियों को देते हैं तब एक विचित्र रीति से अंग-सञ्चालन करते हैं; मुँह से कुछ नही कहते। इनकी बन्दूके ख़ूब लम्बी होती हैं। उनके ऊपरी भाग पर काँसे का एक काँटा लगा रहता है। वह शायद शिस्त लेने के लिए लगाया जाता है। नाच के समय ये लोग अपनी अपनी बन्दूके लिये रहते हैं। उन्हे ये एक हाथ से उछालते और दूसरे हाथ से रोकते हैं। उछालते समय जो हाथ ख़ाली हो जाता है उससे ये अपने अपने रूमाल हिलाने लगते हैं।

इस जाति के जो मूल-निवासी समुद्र के पूर्वी तट की तरफ़ रहते हैं वे प्रायः शान्त और नम्र स्वभाव के होते हैं। परन्तु उनके सिर के बाल देख कर डर लगता है। वे सुअर के बालों की तरह सीधे खड़े रहते हैं। बास-

स्थान के अनुसार इन लोगों के समुदायों के नाम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। यथा—जंगलों में रहनेवाले जंगली, मैदानों में रहनेवाले मैदानी और झीलों के किनारे रहनेवाले झीलवाले कहाते हैं।

मैडेगास्कर में जो प्रान्त समुद्र-तट से दूर हैं वहाँ होवास नाम की एक जाति रहती है। इस जाति के मनुष्य भी इस टापू के मूल-निवासी हैं। यह राज-जाति है। यही जाति समस्त मूल-निवासियों पर शासन करने का गर्व रखती है। वह कहती है, हम राज-वंशी हैं। अतएव शासन का अधिकार हमको छोड़ कर और किसी को नहीं। परन्तु सकालवा लोग इनका शासन नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं—हम चुनां दीगरे नेस्त। होवास होते कौन हैं? उन्हें राजा बनाया किसने? इस कारण इन दोनों जातियों में सदा झगड़े-बखेड़े हुआ करते हैं। नृवंश-विद्या के ज्ञाताओं का अनुमान है कि होवास लोग मलयवंशी हैं। प्राचीन समय में कुछ जावा-निवासी मैडेगास्कर में जा बसे थे। ये लोग उन्हीं की सन्तति हैं। इनका रंग गोरा, क़द नाटा और बदन मोटा होता है। बाल मुलायम और काले होते हैं। दाढ़ी छोटी और आँखें लाल लाल होती हैं। अतएव रूप-रंग और शरीर-संगठन में ये लोग सकालवा जाति के आदमियों से नहीं मिलते। फिर भला वे लोग इन गोरों का-

शासन क्यों स्वीकार करें ? संसार मे गोरों की धींगा-धींगी चलती ज़रूर है, पर सदा और सर्वत्र नहीं।

सकालवा लोग कोई छः हाथ लम्बा और डेढ़ हाथ चौड़ा कपड़ा कमर में लपेटते हैं। स्त्रियाँ भी ऐसा ही करती हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक सा वस्त्र व्यवहार करते हैं। याद रहे, इन लोगों ने अपने राजे अलग बना रक्खे हैं। मलय-वंशी जाति के आदमियों के राजा को ये अपना राजा नहीं मानते। इनके राजा लाल रंग के कपड़े पहनते हैं। रानियाँ भी इसी रंग के कपड़ों से अपने शरीर की सुन्दरता बढ़ाती हैं। जब ये घूमने निकलती हैं तब इनके सिर पर लाल ही रंग का एक छत्र लगाया या मुकुट रक्खा जाता है। मार्ग में लोग झुक झुक कर उन्हें प्रणाम करते और आशीर्वाद देते हैं—
"चिरजीवी रहें सदा रानी हमारी"।

स्त्रियाँ अपने बाल बहुत कम बाँधती या गूँथती हैं। बात यह है कि यह काम बड़े परिश्रम और बड़े कष्ट का समझा जाता है। तीन तीन चार चार घण्टे की लगातार मिहनत से कहीं एक स्त्री के बाल सँवारे, गूँथे और बाँधे जा सकते हैं। इतना झंझट करे कौन ? वर्ष छः महीने बाद कभी, हमारी होली दिवाली के त्योहार की तरह, इनके केश-प्रसाधन का त्योहार भी मना लिया जाता है। स्त्रियाँ, प्रसाधन के समय, अपने सिर

के बालों को पहले २४ भागों में बाँटती हैं। फिर प्रत्येक भाग को अलग अलग सँवार कर उसका जूड़ा बनाती हैं। इसी तरह २४ जूड़ों का एक समूह बनाकर और उसे मज़बूती से गूँथ कर लटका लेती हैं। कहीं कहीं जूड़ा न बनाने की भी चाल है। वहाँ समस्त केशपाश की २४ वेणियाँ बना कर वहीं सिर के इधर-उधर लटका ली जाती हैं।

सकालवा लोगों का प्रधान खाद्य तो चावल है; पर वे लोग मांसभोजी भी हैं। शाक-सब्ज़ी और चावल के सिवा वे गाय, बैल, सुअर, बकरी आदि का मांस भी खाते हैं। वे दिन में दो दफ़े भोजन करते हैं—दोपहर को और फिर कुछ रात बीतने पर। इन लोगों का मेदा चावल अच्छी तरह नहीं हज़म कर सकता। यदि किसी ने ज़रा भी अधिक खा लिया तो पेट चलने लगता है। भोजन करते समय पुत्र के सामने माँ बैठी ही नहीं रहती, वह उसके पेट पर ढीला करके फीते की तरह कपड़े की एक चिट बाँध देती है। खाते खाते बच्चे के पेट से ज्यों ही फीता लग जाता है त्यों ही माँ बच्चे के सामने से खाद्य पदार्थ खींच लेती है। मतलब यह कि बच्चा इतना न खा जाय कि हज़म न कर सके।

सक़ालवा लोग नास के बड़े शौक़ीन हैं। वे दिन-रात नास सूँघा नहीं, किन्तु फाँका करते हैं। इस

जानते हैं कि हमारे देश में नास सूँघा जाता है। परन्तु सकालवा लोग उसे नाक से नहीं सूँघते। वे उसे मुँह में डालते और धीरे धीरे चूसा करते हैं। वे बाँस काट कर उसी की नासदानियाँ बनाते हैं।

हम लोगों की तरह सकालवा भी अपने अपने घरों में छप्पर छाते हैं। उनके छप्पर घास के होते हैं। दीवारें लाल मिट्टी की होती हैं। घरों के दरवाज़े छोटे होते हैं; सीधा खड़ा होकर आदमी घर के भीतर नहीं जा सकता। जब कोई सकालवा किसी और के घर जाता है तब एक-दम घुसता नहीं चला जाता। वह दरवाज़े पर रुक जाता है और खड़े खड़े आवाज़ देता है—"क्या मैं भीतर आ सकता हूँ?" यह सुनते ही गृहिणी उत्तर देती है—"शुभागमन। आइए।" यह कहती हुई वह बाहर निकल आती है और अभ्यागत को घर के भीतर ले जाती है। वहाँ वह उसे सादर बिठाती और आगमन का कारण इत्यादि पूछती है। ये लोग आतिथ्य करना खूब जानते हैं। अभ्यागतों का दिल कभी नहीं दुखाते।

सकालवा लोग चटाइयाँ बनाने में बड़े पटु हैं। वे उसी पर बैठते और सोते हैं। उनके घर लम्बाई में पन्द्रह बीस गज़ से अधिक नहीं होते। वे बहुत गन्दे रहते हैं। कारण यह कि सोने, बैठने, भोजन बनाने,

चीज़-वस्तु रखने और पशु बाँधने के लिए उनमें अलग अलग स्थान नहीं रहते। वहीं, उसी छोटे से घर में, सब काम होते हैं। जहाँ खाना बनाते हैं वहीं सो जाते हैं। जहाँ बैठते उठते हैं वहीं पशु बाँध देते हैं।

ये लोग शुभाशुभ का बड़ा विचार करते हैं। इन्होंने कुछ दिन शुभ मान रक्खे हैं, कुछ अशुभ। इनका ख़याल है कि अशुभ दिन सन्तानोत्पत्ति होने से वह माता-पिता के लिए क्लेशदायक होती है। अतएव यदि किसी के घर बुरे दिन बच्चा पैदा होता है तो वह तत्काल ही पानी में डुबो कर मार डाला जाता है। पर कहीं कहीं इस रीति में कुछ अपवाद भी है। वहाँ अशुभ दिन में उत्पन्न हुआ बच्चा किसी गाय या बैल के आगे फेंक दिया जाता है। दैवात् यदि वह पशु बच्चे को नहीं कुचलता तो समझा जाता है कि बच्चा सुलक्षणी है, मार डालने की ज़रूरत नहीं। तब बच्चे के घरवाले उसे उठा लाते हैं और आनन्द मनाते हैं। यदि पशु ने उसे कुचल दिया और वह मर गया तो माता उसे कपड़े से ढक कर एक नई हाँडी में रख देती है और उस हाँडी को ज़मीन में गाड़ देती है।

सुलक्षण-संयुक्त बच्चा जन्म के बाद सातवें दिन घर से बाहर निकाला जाता है। फिर उसे माता-पिता किसी अहीर के यहाँ ले जाते हैं। अहीर से मतलब उस

सकालवा से है जिसके यहाँ पशु बहुत होते हैं। वहाँ पर अहीर, और कहीं कहीं बच्चे का पिता, बच्चे को सम्बोधन करके कहता है—"तुम्हारा व्रत या व्यवसाय गोपालन हो। तुम खूब धनवान् हो, तुम बहुत से बाल-बच्चेवाले हो।" इस रस्म के अदा हो जाने पर, माता-पिता बच्चे को लेकर अपने घर लौट आते हैं। इसके कुछ ही समय पीछे बच्चे का नामकरण-संस्कार होता है। बच्चों के नाम उनकी भाषा में, सदा उनकी आकृति के अनुसार, रक्खे जाते हैं। यथा—गौरकाय, श्याममूर्ति, चिपिटाक्ष, दीर्घनास, लम्बोष्ठ, लोलजिह्व, शूर्प-कर्ण, कम्बु-कण्ठ, उन्नतोदर आदि।

सन्ततिमती मातायें जब कहीं बाहर जाती हैं तब बच्चों को कपड़े से पीठ पर बाँध लेती हैं। कभी कभी ऐसा दृश्य देखने को मिलता है कि स्त्री अपने सिर पर तो जल से भरा हुआ एक बड़ा सा घड़ा रक्खे है और पीठ पर छः सात वर्ष का एक बच्चा भी लादे है। सकालवा जाति के बच्चे अपनी माता से पहले पहल जो शब्द सीखते हैं उनका अर्थ है कि अपने साथ हमें भी ले चलो।

इन लोगों की स्त्रियाँ, भारतीय स्त्रियों की तरह, कभी बेकार नहीं बैठती। भोजन तैयार करने के बाद या तो वे धान कूटती हैं या सूत कातती, कपड़ा बुनती,

अथवा टोपी, खाट, मचिया, टोकरी आदि बनाती हैं। कभी कभी खेती के काम मे वे अपने पतियो की मदद भी करती हैं।

मैडेगास्कर के मूल-निवासी नाचना बहुत पसन्द करते हैं। आमोद-प्रमोद में स्त्री-पुरुष सभी शरीक होते हैं। परन्तु अँगरेज़ो की तरह वे इकट्ठे नही नाचते। नाचने के समय पैर बहुत नही हिलाते; हाथो का सञ्चालन ही अधिक करते हैं।

बहुत समय से मैडेगास्कर में स्त्रियाँ ही शासन करती हैं। जिस समय जो रानी होती है उस समय वह अपने लिए एक नया ही राज-भवन निर्माण कराती है। राजप्रासाद एक छोटी सी पहाड़ी पर बनाया जाता है। बनावट में वह साधारण घरों ही की तरह होता है। पर, हाँ, कुछ बड़ा अवश्य होता है और उसमें कुछ राजसी ठाट के सामान भी होते हैं।

किसी समय इस टापू में मूर्तिपूजा प्रचलित थी। नाना प्रकार की मूर्तियो पूजी जाती थीं। उनमें एक मूर्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। उत्सव के दिन लोग उसे लोहे के एक अद्‌भुत वर्म्म किंवा जालीदार वस्त्र से ढक कर जगह जगह घुमाते थे। मूर्ति के आगे आगे एक आदमी, भीड़ को हटाता हुआ, दौड़ता था। सकालवा लोगों का विश्वास था कि मूर्तियों की प्रसन्नता और सन्तुष्टि पर ही

देश का मङ्गल अवलम्बित है।

इस कराल कलिकाल में ईसाई-धर्म-प्रचारकों को यदि सर्वव्यापक कहें तो भी कुछ अत्युक्ति नहीं। ये सारे संसार को पुण्यात्मा बनाने और उसे स्वर्ग के सिंहासन पर बिठाने के लिए दिन-रात फिक्रमन्द रहते हैं। अपने देश, अपने प्रान्त, अपने नगर, यहाँ तक कि अपने घर तक में भी प्रभु ईसामसीह की सुन्दर शिक्षाओं पर चाहे मनों हरताल क्यों न पोता जाता हो, उसकी इन्हें उतनी फिक्र नहीं। उन लोगों को धर्मभीरु और धर्माचरणरत बनाने की ओर इनका ध्यान उतना नहीं जाता जितना कि एशिया और अफ़रीक़ा के विधर्मियों, अतएव पाप-परायणों को धर्मनिष्ठ बनाने की ओर जाता है। अतएव इस तरफ़ ऐसा कोई भी देश या टापू नहीं जहाँ परोपकारव्रत के व्रती पादरियों के क़दम शरीफ़ न पहुँचे हों। इसी सद्बुद्धि की प्रेरणा से, १८२० ईसवी में, मैडेगास्कर में भी कुछ पादरी पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा ने उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। यथा समय उस राजा की मृत्यु हुई। उसके बाद उसकी रानी ने राज्य-भार ग्रहण किया। जिस दिन वह राजासन पर बैठी उसी दिन लोहे के आभरणों से आवृत दो मूर्तियाँ उसके सामने लाई गईं। उन पर हाथ रखकर रानी ने कहा—"हम तुम पर विश्वास करती हैं। हमारी रक्षा तुम्हारे ही हाथ है।"

इधर इसके पहले ही बहुत से मैडेगास्कर-वासी, ईसाइयों के पेच में पड़ कर, ईसाई हो चुके थे। रानी ने उन्हें दण्ड देने का निश्चय किया। किसी को उसने क़ैद कर लिया, किसी को फाँसी दे दी और किसी को जीता ही गड़ा दिया। पर स्वयं रानी ही का एक लड़का, जो ईसाई हो गया था, किसी तरह बच गया।

पूर्वोक्त रानी के मरने पर दूसरी रानी गद्दी पर बैठी। कुछ दिनों बाद, वह ख़ुद ही ईसाइन हो गई। इस कारण उसने राज्य भर में मनादी करवा दी कि जितनी मूर्तियाँ हैं सब तोड़ डाली या जला डाली जायँ। इस आज्ञा का यथासाध्य परिपालन किया गया। फल यह हुआ कि तब से ईसाई-धर्म्म ही की तूती वहाँ बोल रही है। इस समय मैडेगास्कर में छोटे बड़े सौ सवा सौ गिरजे होंगे। अधिकांश सकालवा लोग हज़रत ईसा की पवित्र भेड़ों के ग़ल्ले में शामिल हो गये हैं और सातवें आसमान पर चढ़ा दिये जाने का रास्ता देख रहे हैं। प्रभो, मसीह, उनकी कामना फलवती कीजियो!

[दिसम्बर १९२३

"साहित्य-मणि-माला"

८० से २०० पृष्ठ तक की सुन्दर और रैपर चढ़ी हुई पक्की जिल्द

मूल्य दस आना।

१. झंकार—श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की अनुपम और अभूतपूर्व गीति कविताओं का संग्रह। पृष्ठ संख्या १७४

२. अंकुर—श्री कृष्णानन्द गुप्त ने कहानी-लेखन-कला में बहुत ख्याति पाई है। यह पुस्तक उन्हीं की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है। पृष्ठ संख्या १५०

३. स्वप्न वासवदत्ता (नाटक)—कालिदास की शकुन्तला के बाद संस्कृत-साहित्य में यदि किसी नाटक का नाम लिया जा सकता है तो वह महाकवि भास का स्वप्न वासवदत्ता नाटक है। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने उसी का यह हिन्दी अनुवाद किया है। पृष्ठ संख्या १२४

[महाकवि भास के अन्य सभी नाटक इसी माला में निकल रहे हैं]

४. स्वास्थ्य संलाप—इस पुस्तक में प्रश्नोत्तर रूप में स्वास्थ्य संबंधी सभी सिद्धान्तों को समझाया है। पुस्तक कहानी के ढङ्ग पर लिखी गई है, पढ़ने उपन्यास जैसा ही आनन्द आता है। घर के सभी लोगों के पढ़ने योग्य है। तिस पर भी स्त्रियों और बच्चों के काम की चीज़ है। पृष्ठ संख्या १६४

५. दूर्वा-दल—श्री सियारामशरण जी गुप्त सुन्दर और चुनी हुई कविताओं का संग्रह। प्रतिष्ठित प्रतिष्ठित लोगों और पत्रिकाओं ने इसकी सभी कविताओं की प्रशंसा की है। अवश्य ही पढ़िये। पृष्ठ संख्या १११

६. शेलकश—रूसी लेखक गोर्की की प्रसिद्ध कहानी "शेलकश" का अनुवाद। समाज के निम्न श्रेणी के लोगों का ऐसा अच्छा चित्र अंकित किया है कि पढ़कर उनके प्रति स्वतः सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है "शेलकश" गोर्की की अनूठी कृति है। पृष्ठ संख्या ११२

७. पुरातत्व-प्रसङ्ग—(पुस्तक आपके हाथ में है)

पता—प्रबन्धक, साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)